UPNUL/2013/51445 ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ

वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष ४ अङ्क २

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी १३/९० सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

फरवरी, २०१५

सम्पादक :
प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : ०५४२-२३६६६२२

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : १२५/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Dr. Rajendra Prasad Sharma

Head, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष ४ अङ्क २

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

August, 2014

Editor :
Prof. Shrikishore Mishra
Dr. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय		i-ii

शोधलेख

१.	**देहतत्त्व, मुक्ति, मृत्यु एवं परम पद का रहस्य**	महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ जी कविराज	१–२८
२.	**त्रिपदा गायत्री एवं उसका शक्तिस्वरूप**	डॉ. कैलाशचन्द दवे	२९–३८
३.	**शाक्ततन्त्र का परमतत्त्व**	डॉ. हर्षदेव माधव	३९–४८
४.	**तन्त्रागम में मन्त्र : स्वरूप एवं प्रकार**	प्रो. बीना अग्रवाल	४९–५५
५.	**आभ्युदयिक कार्यों में पूजित षोडशमातृका एवं सप्तघृतमातृकाओं का आगमिक रूप**	डॉ. पुष्पा त्रिपाठी	५६–६५
६.	**तन्त्रागमीय नृसिंहोपासना**	डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय	६६–८३

७.	**वाल्मीकीय रामायण में राम के विष्णु स्वरूप की सिद्धि**	डॉ. सुभाष शर्मा	८४–९२
८.	**धर्मसम्राट्करपात्रस्वामिनः सारस्वती सुषमा**	डॉ. राजेन्द्रप्रसादशर्मा	९३–९८
९.	**ज्योतिषागमयोरन्तरसम्बन्धः**	गणेशत्रिपाठी	९९–१०४

सम्पादकीय

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग का नवीन अङ्क प्रस्तुत है। इसमें सर्वप्रथम पूज्यपाद महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथजी कविराज का 'देहतत्त्व, मुक्ति, मृत्यु एवं परम पद का रहस्य' विषयक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निबन्ध संगृहीत है, जिसमें पूज्य कविराज जी ने तन्त्रागम के गम्भीर रहस्य को प्रस्तुत करते हुए देह के दार्शनिक भेदों को सुस्पष्ट किया है। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण देह का प्रामाणिक व शास्त्रीय विवेचन किया है। विदेह प्राप्ति का मार्ग भी बताया है। इसी प्रकार मृत्युविज्ञान और परमपद के साक्षात् सम्बन्ध को प्रकाशित किया है। मृत्यु काल में योगी साधक के लिए क्या करणीय है? इसका विधान गीता के आधार पर प्रतिपादित किया है। निबन्ध के अन्तिम भाग में परम पद का अद्‌भुत तत्त्वमीमांसीय दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है जो आगमिक साधकों के लिए परमोपयोगी है।

'त्रिपदा गायत्री एवं उसका शक्तिस्वरूप' विषय शोध आलेख में डॉ. कैलाशचन्द्र दवे जी ने वेदमाता गायत्री मन्त्र के शास्त्रीय रहस्यों को उन्मीलित किया है। वैदिक ग्रन्थों में प्रोक्त गायत्री का शब्दार्थ विचार करते हुए उसके अक्षरों की संख्या तथा मन्त्र की शास्त्रीय व्याख्या योगी याज्ञवल्क्य के वचनों आधार पर सुदुर्लभ रूप में प्रस्तुत करने का महनीय प्रयास किया है।

डॉ. हर्षदेव माधव ने अपने लेख 'शाक्ततन्त्र का परमतत्त्व' में तन्त्रागमाधारित विवेचन के आधार पर शक्ति को सर्वोच्च परमतत्त्व निर्धारित किया है। पञ्चकृत्य परायणा शक्ति किस प्रकार जगत् का सर्जन, पालन एवं संहार करती है, यह सुस्पष्ट किया है। प्रसङ्गत: आगम के छत्तीस तत्त्वों की शास्त्रीय मीमांसा भी प्रस्तुत कर दी गई तथा शक्ति का सच्चिदानन्द रूप भी सिद्ध किया है।

'तन्त्रागम में मन्त्र : स्वरूप एवं प्रकार' विषयक आलेख में प्रो. बीना अग्रवाल ने मन्त्र के विविध स्वरूप तथा अनेक प्रकारों पर पर्याप्त वैदुष्यपूर्ण विवेचन शास्त्रीय आधार पर प्रस्तुत किया है, जो साधकों के लिए अत्यन्त हितकारी है।

डॉ. पुष्पा त्रिपाठी ने अपने विवेच्य आलेख 'आभ्युदयिक कार्यों में पूजित षोडशमातृका एवं सप्तघृतमातृकाओं का आगमिक रूप' में इसका शास्त्रीय आधार सुप्रतिपादित किया है। मातृका पूजन का क्रम सुस्पष्ट करते हुए वर्ण मातृका से इनका अविभाज्य वर्णन भी आगम ग्रन्थों के अनुसार किया है। इसके साथ ही अत्यन्त उपयोगी वर्णों का तान्त्रिक स्वरूप भी प्रकट किया है।

'तन्त्रागमीय नृसिंहोपासना' नामक शोध निबन्ध में डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय जी ने नृसिंह साधना विषयक विशेष अध्ययन वैष्णव तन्त्रों के अनुसार किया है। नृसिंह के विभिन्न रूप, मन्त्र एवं विग्रहों का शास्त्रीय एवं विस्तृत प्रामाणिक विवेचन विविध शास्त्रीय तथ्यों के आधार पर प्रतिपादित किया है जो जिज्ञासु साधकों के निस्सन्देह महती उपलब्धि है। 'उग्रं वीरं' मन्त्र का गहन शब्दार्थ विविध पारम्परिक तन्त्रों के आगमिक आधार पर प्रकट किया है, जो इस लेख को इस विषय में अद्वितीय बनाता है।

'वाल्मीकीय रामायण में राम के विष्णु स्वरूप की सिद्धि' विषयक आलेख में डॉ. सुभाष शर्मा ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के विष्णु स्वरूप सिद्धि के लिए अनेक शाब्दिक युक्तियाँ वाल्मीकि रामायण के आधार पर प्रस्तुत की है। रामायण के ये उद्धरण यथार्थत: श्री राम के भगवत् स्वरूप को सर्वथा सिद्ध करते हैं। विष्णुस्वरूप सिद्धि के लिए यह अन्त: प्रमाण का प्रबल साक्ष्य है।

'धर्मसम्राट्करपात्रस्वामिन: सारस्वती सुषमा' विषयक लेख में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा ने धर्मसम्राट् करपात्री जी के द्वारा लिखित विस्तृत सारस्वत अवदान का प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत किया है।

'ज्योतिषागमयोरन्तरसम्बन्ध:' लेख में शोधार्थी गणेश त्रिपाठी ने दोनों शास्त्रों के अन्त:सम्बन्ध की वैदुष्यपूर्ण रूप में सुपरिभाषित किया है।

यह अंक न केवल महत्त्वपूर्ण पूर्वप्रकाशित सामग्री को साधकों के लिए उपलब्ध कराता है अपितु नई रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अंक का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिए उपयोगी होगा।

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग का आगामी अंक परमगुरु श्री करपात्री स्वामी जी की जयन्ती के शुभ अवसर पर अगस्त, २०१५ में प्रकाशित होगा। अत: तन्त्र, योग एवं आगम शास्त्र साधना के क्षेत्र में रत सुधी विद्वज्जनों से विनम्र अनुरोध है कि उक्त पत्रिका में प्रकाशनार्थ श्रीविद्या, तन्त्र आगम आदि विषयों से सम्बद्ध वैदुष्यपूर्ण शोध लेख श्रीविद्यासाधना पीठ के पते पर प्रेषित कर पत्रिका के पल्लवन एवं उन्नयन में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान करने की कृपा करें।

देहतत्त्व, मुक्ति, मृत्यु एवं परम पद का रहस्य

महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ जी कविराज

देह किसे कहते हैं, देह की उत्पत्ति कैसे होती है, देह का धर्म और स्वरूप क्या है, वह देह कितनी तरह का है एवं आत्मा से उसका सम्बन्ध किस प्रकार का है? साधारणत: अधिकांश जिज्ञासु मनुष्यों के चित्त में ये प्रश्न एवं इसी तरह के अन्यान्य प्रश्न उठते ही नहीं; क्योंकि प्राय: सब लोगों का ही विश्वास है कि यह सर्वसाधारण का सुपरिचित विषय है। इसके सिवा, बहुतों की यह धारणा भी है कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए आत्म-तत्त्व की उपलब्धि आवश्यक है, सुतरां परमार्थलिप्सु के लिए छान-बीन के साथ देहतत्त्व को जानने की चेष्टा करना काकदन्त-परीक्षा के समान ही निष्फल है।

परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है; क्योंकि जिनकी पारमार्थिक आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की सच्ची उत्कण्ठा है, उनके लिए देहतत्त्व का प्रकृष्ट ज्ञान आवश्यक है। **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्** यह अति गम्भीर सत्य है। किसी भी प्रकार से हो, जीव जबसे किसी अनादि और अनिर्वचनीय शक्ति के प्रभाव द्वारा संसार-पाश से बँधा है, तभी देहाध्यास-वश उसका आत्मबोध देह को आश्रय करके ही अभिव्यक्त होता है। वस्तुत: जीव आत्म-विस्मृत हो गया है, एवं उसकी विशुद्ध चेतना मलिन और परिच्छिन्नवत् होकर देश-काल और कार्यकारण-भाव के अधीन रूप में प्रतीत होती है। 'देह कोई वस्तु नहीं है, यह अनित्य एवं नश्वर है'—इस प्रकार सोचकर देह-सम्बन्धी विचारों को दूर करने की इच्छा करने पर भी, प्राकृतिक शक्ति के अव्यर्थ आघात से जीव का देहात्म-बोध निरन्तर जाग्रत् होता रहता है। साधारण जीव के लिए आत्मा और देह को परस्पर पृथक्-भाव से ग्रहण करना सम्भव नहीं है। लोकायत सम्प्रदाय अर्थात् चार्वाक मतावलम्बी जड़वादी-गण भी यह अच्छी तरह समझते हैं। नहीं तो बृहस्पति को आत्मा के इस लक्षण-सूत्र **चैतन्यविशिष्टकाय: पुरुष** की रचना करने की आवश्यकता न होती। पक्षान्तर में विशुद्ध आत्मवादी दार्शनिक को भी विदेह-कैवल्य प्रमाणित करते समय, नाना प्रकार से देह की सत्ता को अङ्गीकार नहीं करना पड़ता। जो विदेह-मुक्तिरूप मोक्ष को स्वीकार करते हैं, उनके मोचक ज्ञानका उद्भव भी देहावच्छेद-काल में ही होता है। सुतरां लौकिक ज्ञान वाले जीव के लिए विशुद्ध जड़ या विशुद्ध चैतन्य, इनमें से किसी भी एक पक्ष का ग्रहण करना सम्भव नहीं है। प्रस्थान-भेद से शास्त्रीय परिभाषा का तारतम्य रहने पर भी वस्तुस्थिति सर्वत्र प्राय: एक प्रकार की ही देखी जाती है। शास्त्र-दृष्टि से देह कहने से साधारण मनुष्य जो समझते हैं, वह स्थूल देह का ही प्रकार-मात्र है, वस्तुत: वह देहतत्त्व के भौतिक विकास के सिवा दूसरी कोई चीज नहीं है। रज और वीर्य के

संयोग से हो, या उस संयोग के बिना हो, भौतिक अणुराशि किसी एक विशिष्ट स्थान पर अवस्थित होकर बिन्दु-भाव को प्राप्त होती है, तब उसे ही स्थूल देह का बीज समझना चाहिए। यह देह-बीज बाह्य उपादान ग्रहण करके पुष्टि प्राप्त करता है और यथासमय कार्यक्षम रूप से अभिव्यक्त होता है। रज और वीर्य रूप रक्त और शुक्ल बिन्दु-द्वय प्राकृतिक अथवा आहार्य-काम के प्रभाव से विक्षुब्ध होकर परस्पर मिलते हैं एवं बीज-रूप में आत्म-प्रकाश करते हैं। जब तक मनुष्य ब्रह्मचर्य-साधन के क्रमिक उत्कर्ष द्वारा स्थिररेता और ऊर्ध्वरेता अवस्था की उपलब्धि नहीं कर पाता, तब तक उसकी अधोरेता अवस्था स्वाभाविक है। साधारणत: मनुष्य-मात्र की यही स्थिति है, इस अवस्था में काम-जय न होने के कारण विक्षोभ के द्वारा वीर्य की गति अधोमुखी या बाह्य हुए बिना नहीं रह सकती। इस गति-वेग से शक्त्यात्मक व्यापक बिन्दु-सत्ता वाष्पराशि के संघात से उत्पन्न हुए घनीभाव के समान घनीभाव को प्राप्त होती है और क्रमश: अधोभूमि में अवतीर्ण होते-होते तैजस एवं तरल अवस्था प्राप्त कर नाभि के निम्न देश में आ जाती है। वहाँ से रेतोवहा नाड़ी के द्वारा मध्याकर्षण-शक्ति के नियमानुसार बाहर निकल जाती है। यही प्रकृत काम का सृष्टि-रहस्य है। परन्तु जो ब्रह्मचारी और जित-काम हैं, उनको स्थूल सृष्टि के कार्य में प्रवृत्त होने की आवश्यकता होने पर पहले इच्छाशक्ति के द्वारा या क्रियाकौशल से काम को विक्षुब्ध करना पड़ता है; क्योंकि बिन्दु-क्षोभ हुए बिना किसी प्रकार की गति का विकास सम्भव नहीं है। गति न होने से सृष्टि आकाश-कुसुम के समान है। ऊर्ध्वरेताओं का निष्काम-भाव सांसिद्धिक है, इसलिए प्राकृत मनुष्यों के समान उनमें काम-प्रवृत्तियों की सम्भावना नहीं है। इस सृज्यमान काम को आहार्य-काम कहते हैं।

प्राचीन समय में ब्रह्मचर्य-सिद्धि के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश होने पर, प्रजा-तन्तु की रक्षा के लिए इसी प्रकार काम का आवाहन करके कार्यसिद्धि करनी पड़ती थी। बाह्य दृष्टि से दोनों ही सृष्टि के भेद प्राय: एक से ही है; क्योंकि दोनों में ही शुक्र-शोणित के मिलन की आवश्यकता है। यही मैथुन-सृष्टि अथवा योनिज-देह की उत्पत्ति का विवरण है।

यह कोई नियम नहीं है कि स्थूल देह सर्वत्र योनिज ही हो, अयोनिजदेह भी होता है। सीता जैसे अयोनि-सम्भवा थी, वैसे ही और अनेक देवता-मुनि-ऋषियों के देह भी अयोनिज सुनने में आये हैं। शुद्ध सङ्कल्प से परमाणु आकृष्ट होकर यथावत् स्थान में स्थित हो, देह का उत्पादन करते हैं। प्रलय के बाद सृष्टि के आरम्भ में जो देह निर्मित होते हैं, वे एक हिसाब से अयोनिज स्थूलदेह के ही उदाहरण हैं। इस प्रकार के देह सृष्टिकर्ता के संकल्पवश परमाणुपुञ्ज के संघटन से उत्पन्न होते हैं।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि ऊर्ध्वरेता का शक्ति-स्रोत ऊपर की ओर प्रवहनशील होने पर भी आहार्य-काम के प्रभाव से कुछ समय के लिए अधोवृत्त हो जाता है। यह ठीक है कि काम का आहरण करना या न करना अपनी स्वतन्त्रता है। जो काम का आवाहन नहीं करते, अथवा इस तरह आहरण करने की स्वतन्त्रता जिनको नहीं है, वे इस प्रकार की मैथुनी-सृष्टि में प्रवृत्त नहीं होते, परन्तु शुद्ध काम के आश्रय में केवल नाभि, हृदय और मस्तक प्रभृति का अंगुलि से स्पर्श करते हैं अथवा देह-सम्बन्ध के बिना भी

योगीजन गर्भ-सञ्चार कर सकते हैं। यह भी एक प्रकार की रजोवीर्य-संघात की प्रक्रिया है, परन्तु यह पूर्ववर्णित प्रक्रिया से अत्यन्त सूक्ष्म है। जो कामाश्रय के अत्यन्त विरोधी हैं, वे इस सूक्ष्म-प्रक्रिया का भी अवलम्ब लेने की इच्छा नहीं करते।

पूर्वोक्त आलोचना द्वारा यह समझ में आ जायगा कि स्थूल देह एक प्रकार का नहीं होता। हम लोग प्रतिदिन लौकिक व्यवहार में जिस प्रकार के स्थूल देह देखते हैं, वे अध:स्रोत वीर्य द्वारा उत्पन्न होने के कारण स्वभावत: अशुचि और अशुद्ध हैं। साधना-विशेष के प्रभाव से इस कामांश को शरीर से शोधित किये बिना देहशुद्धि नहीं होती। यह सर्वत्र प्रसिद्ध स्थूलदेह 'प्रथम' श्रेणी के अन्तर्गत है। ऊर्ध्वरेता जीव के सङ्कल्प-प्रभाव से आहार्य-काम के सम्बन्ध द्वारा अधोवृत्ति उदित होकर जो देह उत्पन्न होता है, वह 'द्वितीय' श्रेणी का स्थूलदेह है। यह अपेक्षाकृत शुद्ध होने पर भी मलिन है; क्योंकि यह भी मैथुन से उत्पन्न हुआ है। ऊर्ध्वरेता जीव के सङ्कल्प से शुद्ध काम का आहरण करके अंगुलि द्वारा स्त्री की नाभि, हृदय, मस्तक प्रभृति के स्पर्श से जो स्थूलदेह उत्पन्न होता है, वह 'तृतीय' श्रेणी का स्थूलदेह है। स्पर्श न करके केवल दर्शन और चिन्तन के द्वारा जहाँ गर्भ-सञ्चार होता है, एवं उसके फलस्वरूप जो देह उत्पन्न होता है, वह 'चतुर्थ' श्रेणी का स्थूलदेह है। तीसरा और चौथा स्थूलदेह स्त्री-पुरुष के बाहरी मिथुन-भाव से उत्पन्न न होने के कारण शुद्ध है। फिर भी तीसरे की अपेक्षा चौथा देह और अधिक शुद्ध है। जिस देह के उत्पन्न करने में बाह्य स्त्री-पिण्ड की अथवा उसके गर्भ-यन्त्र की आवश्यकता नहीं होती, वह और भी अधिक पवित्र देह है। यह ठीक है कि सूक्ष्म योनि-तत्त्व की आवश्यकता सर्वदा ही रहती है; क्योंकि 'योने: शरीरम्' इस नियम के अनुसार योनि की सहायता के बिना केवल लिङ्ग ज्योति:सृष्टि कार्य में व्यापृत नहीं हो सकता। योगी के सङ्कल्प-प्रभाव से भौतिक उपादान-राशि आकृष्ट होकर सम्मिलित होती है एवं देह निर्मित करती है, यह देह 'पाँचवें' प्रकार का है एवं अत्यन्त शुद्ध है। बौद्ध एवं पातञ्जलगण के निर्माणदेह जैन लोगों के आहारक-देह प्रभृति कुछ अंशों में इसी प्रकार के देह हैं। किसी-किसी स्थान पर शास्त्र में इसको औपपादुक-देह कहकर भी वर्णना की गई है। निर्माणदेह एवं औपपादुक-देह में परस्पर अत्यन्त वैलक्षण्य होने पर भी किसी-किसी अंश में समानता होने के कारण ये एक श्रेणी के अन्तर्भुक्त किये गये हैं।

इनके सिवा और भी एक प्रकार का देह है। जैसे पहले स्त्रीपिण्ड के बिना भी देहोत्पत्ति की बात कही गयी है, वैसे ही अवस्था-विशेष में पुरुष-पिण्ड के बिना भी देह उत्पन्न हो सकता है। शक्ति-सिद्धान्त की मूल बात यही है। मानवीय भाषा में इस तत्त्व को प्रकट करना हो तो कहना होगा कि यह देह अक्षत-योनि कुमारी से उत्पन्न सन्तान-देह है। ख्रीष्टीय धर्मसाहित्य में जो Immaculate Conception प्रभृति मतवाद की बातें सुनने में आती हैं, वे केवल मतवाद ही नहीं हैं। इनका गम्भीर रहस्य सूक्ष्मदर्शी तत्त्वविदों के सिवा अन्य लोगों के बोधगम्य नहीं है। यह प्रसिद्ध है कि ईशु ख्रीष्ट की माता मेरी (irgin Mary) कुमारी थी। श्रीकृष्ण, बुद्ध-प्रभृति अवतारों अथवा महापुरुषों का आविर्भाव भी किसी-किसी अंश में इसी के अनुरूप है। स्त्री कुमारी रहकर भी, अर्थात् विकृत न होकर भी, सन्तान की जननी हो सकती है। हिन्दू तन्त्र-शास्त्र में जगदम्बा का कुमारी रूप से वर्णन करने का यही तात्पर्य है; क्योंकि ऐसा होने से विश्व-जगत् प्रसूत होने पर

भी, उनकी स्वरूप-स्थिति और निर्विकार-भाव नष्ट नहीं होता। यह ठीक है कि उनका सधवा-रूप भी है, यहाँ तक कि विधवा-रूप भी है (जैसे धूमावती), पर उसका रहस्य स्वतन्त्र है।

अयोनिज-देह के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसके द्वारा आपातत: यह विचार आ सकता है कि योनि की सहायता के बिना भी देह की उत्पत्ति सम्भव है। परन्तु, वास्तव में यह बात नहीं है। यहाँ 'योनि' शब्द का साधारण प्रचलित अर्थ ही समझना चाहिए। सूक्ष्म अर्थ के अनुसार सोचने पर यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि किसी प्रकार का भी देह अयोनिज नहीं हो सकता। ऊर्ध्व-मुख त्रिकोण एवं अधोमुख त्रिकोण, ये दोनों त्रिकोण ही योनि-स्वरूप हैं। लिङ्गज्योति-रूप बिन्दु के क्षुब्ध होकर गतिशील होते ही योनि में आकर्षण-शक्ति का उदय होता है। यदि बिन्दु अधोगतिशील होता है, तो यह प्राकृत या निम्न योनि में प्रविष्ट होकर सृष्टि का विकास करता है। परन्तु क्षोभ-प्राप्त बिन्दु ऊर्ध्वगतिशील भी हो सकता है। इस अवस्था में उसका समावेश अप्राकृत या ऊर्ध्वयोनि में होता है, प्राकृतयोनि में नहीं होता। इसके फलस्वरूप अप्राकृत, दिव्य एवं विशुद्ध देह का उद्भव होता है। यह ऊर्ध्वयोनि स्थान एवं शुद्धि के भेद से कई प्रकार की है। इसमें जो सबसे ऊर्ध्व है, वह मनुष्य के शिरोदेश में अवस्थित है। वह योगिसमाज में ब्रह्म-योनि के नाम से प्रसिद्ध है। इसी योनि से विशुद्ध ज्ञान-देह की सृष्टि होती है। परन्तु कहना नहीं होगा कि यह भी एक प्रकार के स्थूल देह के सिवा और कुछ नहीं है।

लौकिक स्थूल देह (वेदान्तदर्शन का अन्नमय-कोश) षाट्कौशिक देह के नाम से परिचित है। इसकी रचना में पञ्चभूतों की उपयोगिता ही रहती है। दार्शनिकों में इस सम्बन्ध में काफी मतभेद है कि इसका उपादान कारण एक ही भूत है या पाँचों भूत हैं। पर एक भूत को उपादान या समवायी कारण मानने पर भी, अन्य भूतों की उपष्टम्भक-रूप से निमित्तता माननी ही पड़ेगी। सारांश, इसमें सारे भूत ही हैं। हाँ, पृथिव्यादि भूतविशेष का प्राधान्य होने के कारण यह पार्थिव आदि नाम से प्रसिद्ध होती है।

जिस प्रकार इस देह के सम्बन्ध के बिना जीव का कर्त्तृत्व निष्फल है, उसी प्रकार भोक्तृत्व भी निष्फल ही है। अर्थात् जो जीव स्थूल देहधारी है, उसीका कर्म में अधिकार है, अतएव वही कर्त्ता होता है एवं भोग का आश्रय या भोक्ता भी वही हो सकता है; क्योंकि इस देह का अभिमान रहने तक ही एक ओर कर्त्तृत्व एवं दूसरी ओर भोक्तृत्व प्रकट होता है। जिस प्रकार कार्य के साथ कारण का अथवा हेतु के साथ फल का सम्बन्ध है, उसी प्रकार कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व का भी परस्पर सम्बन्ध है। 'मैं कर्म का कर्त्ता हूँ', इस प्रकार का कर्त्तृत्वाभिमान नष्ट होने के बाद सुख-दु:ख-भोग की आवश्यकता ही नहीं रहती; क्योंकि वास्तव में उस समय कर्म ही नहीं होता। अभिमानहीन पुरुष के लिए कर्म और उसका फल नहीं के बराबर हैं। परन्तु देह का अभिमान रहते कर्म करने ही पड़ते हैं, एवं उसी के अनुसार फल-भोग भी जरूरी है। देहाभिमान का मूल अविद्या है, अत: अविद्या ही कर्म-फलमय संसार-चक्र की प्रवर्त्तक है। ज्ञानोदय के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने से अभिमान का नाश होता है, तब जीव कर्म और भोग की बेड़ी से छुटकारा पाता है।

स्थूलदेह को भोगायतन इसलिए कहते हैं कि इस देह का आश्रय लेकर ही पूर्व-कर्मों का फल-भोग सम्भव है। सूक्ष्म और कारण-देह भोगायतन नहीं हैं। जिस देह से कर्म होता है, वह कर्म-देह है, एवं जिसके

द्वारा भोग होता है, वह भोग-देह है। जिस देह के द्वारा कर्म एवं भोग दोनों ही होते हैं, वह उभयात्मक देह है। कहने की जरूरत नहीं कि ये सब स्थूल देह के ही भेद हैं।

चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करके जीव स्थावर, उद्भिज, स्वेदज, अण्डज प्रभृति अवस्थाओं के ग्रहण एवं परिहारपूर्वक क्रमश: स्वभाव के स्रोत से अन्त में जरायुज-श्रेणी को प्राप्त होता है। फिर क्रमश: जरायुज-श्रेणी की ऊर्ध्वतम सीमा पर पहुँचकर दुर्लभ मनुष्य-देह पाता है। एक-एक श्रेणी से नाना प्रकार के क्रमोत्कृष्ट देह की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार नदी का स्रोत स्वभावत: ही समुद्र की ओर प्रवाहित होता है, उसी प्रकार पुरुष-संसर्ग के वश विक्षुब्ध प्रकृति का अन्त:स्रोत भी पुरुष की ओर ही प्रवाहित होता है। इसीलिए जीव बीजरूप से प्रकृति के गर्भ में आविर्भूत होकर क्रमश: ऊँचा उठता रहता है एवं क्रमश: उत्कृष्टतर देह प्राप्त करता रहता है। यह कृत कर्म का फल नहीं है। प्राकृतिक स्रोत के स्वाभाविक परिणाम का ही फल है। अहंभाव की स्फूर्त्ति न होने तक जीव का कर्माधिकार नहीं होता। अतएव मनुष्य देह पाने के पूर्व तक चौरासी लाख देहों में संचरण केवल प्राकृतिक व्यापार ही है, उसके मूल में व्यक्तिगत इच्छा या कर्म-प्रेरणा नहीं है। परन्तु, मनुष्य-देह के साथ ही संसर्ग होते ही कर्त्तृत्वाभिमान उत्पन्न हो जाता है, एवं इसीलिए कर्माधिकार की उत्पत्ति एवं फल-भोग आवश्यक होता है। उस समय प्राकृतिक स्रोत का प्रभाव नहीं रहता एवं जीव स्वकृत कर्मों से ऊर्ध्व या अधोगति प्राप्त करता है। प्राकृतिक गति सरल और ऊर्ध्वमुखी है; पर कर्म की गति वक्र, चक्राकार एवं अनन्त वैचित्र्यमयी है; क्योंकि अभिमान के विकास से अनन्त प्रकार की लीलामय इच्छा का स्फुरण होता रहता है। इस अभिमान की निवृत्ति से ही स्वाभाविक सरल गति का सूत्रपात होता है। इस सरल स्वाभाविक गति को फिर पाने के लिए ही दीक्षा ग्रहण करके योगादि साधनों के अनुष्ठान की आवश्यकता होती है।

मनुष्य-देह की विचित्रता सूक्ष्मदर्शी साधकों के सिवा दूसरों के गोचर नहीं होती। शक्ति यन्त्र द्वारा नियमित होकर प्रकाशित होती है। मुक्त शक्ति अव्यक्त है, उसका स्फुरण नहीं होता। उसी प्रकार पुरुष-संसर्गवश चेतनशक्ति जड-प्रकृति के गर्भ में प्रविष्ट होकर उससे निकलते समय जड का सत्तांश आकर्षण करके प्रकाशित होती है। जिस प्रकार दीपक तैल आदि के बिना प्रकाशमान नहीं होता, उसी प्रकार सत्त्व से रहित चेतन भी प्रकाशित नहीं होता। यह सत्त्व जड के साथ सम्बन्धित है। चेतनशक्ति इसका क्रमश: उद्धार करके इसके संसर्ग द्वारा स्वयं पुष्टि-लाभ करती है।

चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण बाह्य प्रकृति का सत्तांश जाग्रत् होकर उसी के अनुरूप चेतन-शक्ति के साथ योग-युक्त होता है, प्राण, मन और बुद्धि के विकास का यही मूल सूत्र है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश के विकास का यही क्रम है। चित् और सत् का मिलन भलीभाँति सम्पादन कर लेने पर उससे आनन्द की अभिव्यक्ति स्वभावत: ही होती है, तब दिव्य भाव का उदय होता है एवं आनन्दमय कोश का विकास होता है। क्रमश: षोडशी कला का आविर्भाव होकर खण्ड जीव फिर पूर्ण ज्ञानमय पुरुषोत्तम की गोद में, यहाँ तक कि पुरुषोत्तम-रूप की ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। पर उसके पहले यह सम्भव नहीं है।

हम साधारणत: जिस स्थूल देह को देखते हैं, उसका परिचालन शक्ति के द्वारा ही होता है। स्थूल देह के संचार के मूल में ज्ञान और क्रियाशक्ति अवस्थित है। ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान-शक्ति की धारा है। दोनों धाराएँ ही अन्तःकरण में समान भाव से सम्मिलित रहती हैं। यह तेजोमयी शक्ति देह के अन्तर बहुत-सी सूक्ष्म नाड़ियों के आश्रय से प्राणादि वायु-तत्त्व का अवलम्ब लेकर काम करती है। यद्यपि सारी इन्द्रियाँ स्थूल देह का आश्रय लिये हुए ही जान पड़ती हैं, पर तो भी, वे वास्तव में स्थूल देह का अंश नहीं हैं। क्योंकि मृत्यु अथवा दूसरे के शरीर में प्रवेश करने के समय जब लिङ्ग-शरीर स्थूल देह का त्याग करके बाहर चला जाता है, तब वे भी स्थूल देह में वर्तमान नहीं रहतीं। वास्तव में इन्द्रियाँ आदि तेजोमय शक्ति-विशेष ही की देहगत स्फूर्त्ति है, इस तेज को ही लिङ्ग-शरीर कहते हैं। यह अविभक्त होकर भी, आधार के अनुसार विभक्त के समान प्रतीत होता है। यह स्थूल देह के साथ ओत-प्रोत भाव से व्याप्त होकर रहता है। जैसे काठ के टुकड़े में सुप्त अग्नि विद्यमान रहती है, परन्तु दिखलाई नहीं पड़ती, क्रिया-विशेष के द्वारा उसे जाग्रत् करना पड़ता है, वैसे ही यह लिङ्गात्मक तेज या ज्योति भी समस्त स्थूल देह में व्याप्त है, संघर्षण द्वारा इसको प्रज्ज्वलित करके इससे इच्छानुरूप काम लिया जा सकता है। सांख्यमत से लिङ्ग-शरीर सप्तदश या अष्टादश अवयववाला है। अथवा वेदान्त मत से प्राणादि—त्रिकोशमय है। यहाँ इन पारिभाषिक शास्त्रीय विचारों की आवश्यकता नहीं है। लिङ्ग के साथ साक्षात् परिचय हुए बिना ये सब बातें सरलता से बोधगम्य नहीं होतीं। यह स्पष्ट ही समझ में आता है कि जिसको हल लोग अन्तःकरण कहते हैं, वह भी इस लिङ्ग-ज्योति के ही अन्तर्गत है; यह लिङ्ग संसार में किसी का भी विशुद्ध नहीं है। क्योंकि नाना प्रकार के संस्कार वासना प्रभृति इसमें सञ्चित होकर इसको धूल लगे दर्पण के समान मलिन किये हुए हैं। किसी विषय का आश्रय लेने से चित्त पर जो दाग पड़ता है, वही वासना है। वह कर्म अथवा लौकिक ज्ञान दोनों से उत्पन्न हो सकती है। इस वासना नामक संस्कार का विश्लेषण करने पर जिस प्रकार एक ओर अन्तःकरण की सत्ता मिलती है, उसी प्रकार दूसरी ओर विषय का अंश भी उपलब्ध होता है। आसक्ति के प्रभाव से चित्त में विषय का आकर्षण होता है। सकाम-भाव से जो कुछ किया या सोचा जाता है, वहाँ सर्वत्र ही विषय का अंश आकर अन्तःकरण में संलग्न हो जाता है। जन्म-जन्मान्तरों से कितने संस्कार इस प्रकार इकट्ठे हो रहे हैं, उनका कोई हिसाब नहीं है। ये सब स्वभावत: स्वच्छ हृदय-दर्पण को मलिन कर देते हैं। इन सबको लिङ्ग से दूर कर सकने पर ही लिङ्ग निर्मल (शुद्ध) होता है, बिना दूर किये नहीं।

मृत्यु के उपरान्त जब स्थूल देह को त्यागकर लिङ्ग बाहर चला आता है, तब इन सारे संस्कारों और उनके साथ सूक्ष्म भूत-समूह को भी साथ ले जाता है। जीवित अवस्था में भी यही होता है। मृत्यु के समय जो संस्कार या भाव प्रबल हो जाते हैं, वे पूर्व-सञ्चित दूसरे भावों को उद्‌बुद्ध करके अपने में मिला लेते हैं, एवं पिण्डीभूत होकर प्रारब्ध कर्मों की सृष्टि करते हैं। जीव उसी के अनुसार गति पाता है। फलत: अधिकांश स्थलों में इस फल-भोग के लिए फिर स्थूल देह ग्रहण करने की आवश्यकता पड़ती है, अतएव मरने पर भी छुटकारा नहीं है। क्योंकि अभुक्त कर्मों के फल-भोग के लिए जीव को स्थूल देह धारण करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

अतएव जब इन सञ्चित संस्कारों का पुञ्ज कोई काम नहीं कर सकता एवं अभिनव अर्थात् नये कर्म और उत्पन्न नहीं होते, तब चित्त-शुद्धि होती है। इसका एकमात्र उपाय ज्ञान है। अन्य किसी भी उपाय से चित्त की सम्यक्-रूपेण शुद्धि नहीं हो सकती। देहादि से अलग विशुद्ध आत्मस्वरूप को साक्षात् रूप से जान लेने पर अभिमान नष्ट हो जाता है, एवं इसीलिए नवीन कर्मों का बीज भी नष्ट हो जाता है और देहात्म-बोध के अभाव से प्राक्तन कर्म दग्धवत् हो जाते हैं।

किन्तु ज्ञानोदय का मार्ग क्या है? लिङ्ग-शरीर से निरन्तर चारों ओर रश्मियाँ विकीर्ण हो रही हैं। फलत: लिङ्ग सदा ही विक्षुब्ध रहता है। यदि किसी कौशल से इन विक्षुब्ध रश्मियों को एकत्र कर लिया जाय, तो लिङ्ग स्थिरता को प्राप्त होकर उज्ज्वल एवं अखण्ड ज्योति के आकार में विकसित होगा। यही ज्ञानमयी अथवा ज्ञानरूपी सिद्धि है। साधारणत: मनुष्यमात्र का लिङ्ग-देह असिद्ध है; क्योंकि मनुष्य प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न विषयों का चिन्तन करता रहता है। वह जिस समय जिस विषय का चिन्तन करता है, उस समय उसका चित्त तदाकार हो जाता है, एवं वह उसी विषय का उपादान-संग्रह करता है, किन्तु वह स्थायी नहीं होता। तुरन्त दूसरे विषय के चिन्तन से पहले का आकार नष्ट नहीं हो जाता है एवं दूसरा स्वरूप बन जाता है। इस तरह आकार का टूटना-बनना चित्त में बराबर चलता रहता है। वास्तव में यही दुर्बलता का चिह्न है, परन्तु जब किसी उपाय-विशेष के आश्रय से चित्त एक ही विषय को ग्रहण करके सदा के लिए उसी के आकार में आकारित हो जाता है, तब वह वज्र के समान कठिन हो जाता है। उसकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है, एवं वह स्थिरता प्राप्त कर लेता है।

इस अवस्था में जीव अपने आधार के अनुसार सर्वज्ञ और सर्वशक्ति-सम्पन्न हो जाता है। चित्त की यह एक प्रकार की अद्वय-अवस्था है। परन्तु चित्त शान्त न होने तक यथार्थ अद्वैत-स्थिति नहीं आ सकती। चित्त की यह अवस्था उसी हालत में प्रतिष्ठित होती है, जब उसमें सूक्ष्म रूप से भी दूसरा विषय लेशमात्र विद्यमान नहीं रहता। दृष्टान्त-रूप में सोचिए कि एक व्यक्ति निरन्तर श्रीकृष्ण की भावना करता है। गुरुदत्त कौशल के अनुसार भावना करते-करते एक ऐसी परिबोधित अवस्था का उद्भव होता है कि उसका चित्त उसकी भावना के विषय के साथ ओत-प्रोत होकर एकीभूत हो जाता है। दृष्टान्त-स्थल में, जब चित्त श्रीकृष्ण का आकार धारण करके अवस्थित हो, उस समय यह समझना चाहिए कि इसकी भावना का उत्कर्ष हुआ है। यदि चित्त में श्रीकृष्ण के सिवा अन्य किसी प्रकार का संसर्ग भी न रहे तो फिर चित्त के श्रीकृष्ण-भाव से हट जाने की सम्भावना नहीं रहती। अर्थात् उस समय चित्त में अन्य भावना या विकल्प का उदय नहीं होता, चित्त और कोई नया आकार धारण नहीं करता।

उस समय चित्त का आकार श्रीकृष्णमय और स्थायी हो जाता है। वास्तव में यह 'सायुज्य-मुक्ति' की अवस्था है। जिसकी ऐसी अवस्था हो गई हो, उसके चित्त या लिङ्ग को सिद्ध कहा जा सकता है। सूक्ष्मदर्शी योगी इस प्रकार के मनुष्य को देखकर समझ जाते हैं कि इसको श्रीकृष्ण-भाव की सिद्धि हो गई है। इस उदाहरण के अनुसार ही अन्यत्र भी समझना चाहिए।

चित्त अत्यन्त स्वच्छ है। यह आलम्बन के सम्बन्ध से तदाकार हो जाता है। वास्तव में यह जो श्रीकृष्ण का आकार है, वह सच्चा श्रीकृष्ण नहीं है। यह साधक जीव का श्रीकृष्णाकार चित्त है। इसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। यही लिङ्गसिद्धि है। इस प्रकार लिङ्ग-शरीर की सिद्धि के बिना उज्ज्वल ज्ञान-ज्योति का विकास नहीं होता एवं संसार बीजस्वरूप अन्तःकरण में अवस्थित संस्कारादि भी नष्ट नहीं होते।

लिङ्गसाधना की प्रथम अवस्था ज्योतिसिद्धि है। यही 'सालोक्य-मुक्ति' है। समानलोकता ही सालोक्य है। लोक से मतलब है—आलोक अथवा ज्योति, या ध्येय-देवता की अङ्गप्रभा। जिसको जो आलम्बन इष्ट है, उसके लिए उसी की ज्योति निकट है। यद्यपि मूल ज्योति एक ही है, फिर भी पहले-पहल उसका साक्षात्कार सबको नहीं होता, अतएव श्रीकृष्ण का तेज, श्री रामचन्द्र का तेज, श्रीगणेश का तेज, पारमार्थिक दृष्टि से एक होते हुए भी, व्यावहारिक भूमि में परस्पर विभिन्न हैं। साधक जब इस इष्ट-तेज से अपने लिङ्ग-तेज को मिला लेता है, तभी उसकी सालोक्य-मुक्ति सिद्ध होती है। यह सर्वदा ही स्मरण रखना चाहिए, कि जिसको साधारणत: कृष्णलोक, रामलोक, गणपतिलोक कहा जाता है, वह वास्तव में उन श्रीकृष्णादिरूप मध्य-बिन्दु से नि:सृत उनकी मण्डलाकार प्रभाराशि ही है। सुतरां सालोक्य-अवस्था में उन-उन देवताओं के लोकों में ही स्थिति होती है। लोक के बाद रूप है, एवं रूप के बाद शक्ति या ऐश्वर्य है। चित्त क्रमश: तद्रूपता प्राप्त कर उसकी शक्ति का अधिकारी होता रहता है। यदि अग्नि का आकार धारण करके भी उसकी दाहिका शक्ति को न प्राप्त किया तो समझना होगा कि अभी अग्नि का स्वरूप दूर है। यह शक्ति-लाभ ही सार्ष्टि-मुक्ति की अवस्था है। इसके उपरान्त, शक्ति या ऐश्वर्य को अतिक्रान्त करने के बाद सामीप्य-भाव का उदय होता है। ऐश्वर्य-अवस्था में अधिक घनिष्ठता नहीं होती, किन्तु सामीप्य-अवस्था में नित्य सान्निध्य रहने के कारण माधुर्यभाव का विकास होता है। इसके बाद इष्ट के साथ सर्वथा योग-सम्पत्ति हो जाती है, यही सायुज्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सब लिङ्ग की ही क्रम-श्रेष्ठ सिद्धियाँ हैं।

परन्तु लिङ्ग सिद्ध होने पर भी, अर्थात् परमात्मा के सगुण रूप के समभावापन्नवत् हो जाने पर भी, गुणातीत परा-सत्ता में प्रवेश नहीं होता। लिङ्ग की सर्वथा निवृत्ति हुए बिना निर्गुण अवस्था की प्राप्ति की सम्भावना नहीं है। कहना नहीं होगा कि लिङ्ग-निवृत्ति ही 'परामुक्ति' है। साक्षात् भगवत्-कृपा एवं तदुद्भूत जीव का आत्मसमर्पण होने से ही पूर्णावस्था उदित होती है।

वास्तव में लिङ्ग की निवृत्ति ही आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति है। लिङ्ग के पीछे लिङ्ग का प्रयोजन अविद्यामय कारण-शरीर वर्तमान रहता है। जब तक ब्रह्मविद्या के प्रभाव से इस कारण-शरीर का नाश नहीं होता, तब तक पूर्ण अद्वैतसिद्धि की आशा बहुत दूर है। इस कारणात्मक मूल-अज्ञान को अक्लिष्ट जानकर भक्तगण त्याग करना नहीं चाहते। बौद्ध-सम्प्रदाय में भी सम्यक्सम्बोधिमय बुद्धत्व-लाभ के पूर्व तक इस अक्लिष्ट अज्ञान की सत्ता स्वीकृत हुई है। परन्तु यह मुक्तावस्था के ही अन्तर्गत है; क्योंकि दोनों आवरणों में क्लेशावरण के दूर होने से ही मुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु, अज्ञानावरण की निवृत्ति न होने तक अद्वय-भाव में स्थिति नहीं होती।

लिङ्गदेह सिद्ध करने के कई उपाय हैं। सहजियागण एवं वैष्णव आचार्यगण जिसको भाव-देह कहते हैं, वह सिद्ध-लिङ्गदेह के सिवा और कुछ नहीं है। सिद्ध होने के कारण इसमें लौकिक संस्कार एवं कर्माशय नहीं रहते। स्थूल देह सिद्ध करने का कौशल भी साधकों को अविदित नहीं है। रासायनिकों के मत में अष्टादश संस्कार से संस्कृत पारे के द्वारा देह वेध होता है। लोह-वेध के फलस्वरूप जैसे लौह सुवर्णत्व प्राप्त कर लेता है, वैसे ही देह-वेध के द्वारा अशुद्ध देह वज्र-पञ्जर के समान सिद्धि प्राप्त करता है।

पातञ्जल सम्प्रदाय में भूत-जय के काय-सम्पत् अथवा देह-सिद्धि की बात है। गोरखनाथ आदि नाथगण एवं बौद्धगण भी काय-सिद्धि के सम्बन्ध में अनेक आदेश दे गये हैं। सुना जाता है कि शुक्राचार्य, जलन्धरनाथ, गोविन्द, भगवत्पाद आदि सिद्ध देह-सम्पन्न थे। इस देह में वृद्धत्व का आविर्भाव नहीं होता। नित्य ही किशोरावस्थापन्न एवं रमणीय दिखलाई पड़ती है। किसी प्रकार का भी विकार इस देश में लक्षित नहीं होता। मृत्यु का आघात भी इससे एक प्रकार से दूर ही रहता है। परन्तु यह आपेक्षिक है। यहाँ मृत्यु-जय से कल्पान्त-स्थिति समझनी चाहिए। जिन उपादानों से इस कल्प का उदय हुआ है, उन उपादानों के साथ देह के उपादानों का साम्य हो जाने के कारण कल्पक्षय के पहले इस देह का लय भी सम्भव नहीं है।

अग्नि और सोम के रहस्य का उद्‌घाटन इस प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं है। परन्तु यहाँ यह कह देना उचित है कि सोम-कला से यह देह उत्पन्न होता है, एवं अग्नि-रूपी काल इसे भक्षण करता है। यदि सोमकला अग्नि से, यहाँ तक कि कालाग्नि से भी प्रबल होती है, तो वैसे देह का कल्पान्त में भी विनाश सम्भव नहीं है। सोम-पान से जनित अमरत्व की प्राप्ति का यही तात्पर्य है। किसी भी साधना के द्वारा देहस्थ सोमतत्त्व को प्रधान करके यदि अग्नि को अभिभूत किया जा सके तो आपेक्षिक मृत्युजय की प्राप्ति अवश्य ही होगी। स्थूल देह की अथवा लिङ्गदेह की दीर्घ अवस्थिति का कारण यही है।

हमने पहले जो आलोचना की है, उससे यह समझ में आ जाता है कि देह-तत्त्व पर पूर्णरूप से अधिकार नहीं कर सकने से देहातीत, विशुद्ध एवं अद्वैत आत्म-भाव की सिद्धि कभी सम्भव नहीं है। देह का अवलम्बन लेकर ही विदेह-अवस्था को पाना होगा। यही शास्त्रों का एवं महाजनों का एकमात्र सिद्धान्त है। अतएव मुक्तिकामी के लिए भी देह-तत्त्व का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

मृत्यु-विज्ञान और परम-पद

एक कहावत प्रचलित है कि 'जप-तप में क्या धरा है, मरना सीखो।' बात सीधी-सी होने पर भी अत्यन्त सत्य है। जप, तपस्या, सदाचार आदि जीवन की सभी प्रकार की साधनाएँ व्यर्थ हो जाती हैं, यदि मनुष्य मरना नहीं जानता, उसके लिए पृथक् रूप में किसी साधना की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे कई साधकों का इतिहास पुराणादि में मिलता है, जो जीवन-भर कठोर नियमों का पालन और उग्र साधना करते रहने पर भी मृत्युकाल की लौकिक-भावना के प्रभाव से मृत्यु के बाद उसी भावना के अनुसार अपेक्षाकृत निकृष्ट गति को प्राप्त हुए। इसके विपरीत ऐसे लोग भी पाये जाते हैं, जो जीवन-काल में अत्यन्त साधारण

रूप से रहने पर भी प्राण-त्याग के समय दृढ़ भावना के फलस्वरूप उस उच्च भावना के अनुसार उच्च गति को प्राप्त हुए हैं। मरणोत्तर-गति मृत्युकाल में भावना पर ही निर्भर करती है। श्रीभगवन् ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।। – *गीता*, ८/६

'मनुष्य जिस भाव को स्मरण करता हुआ अन्तकाल में देहत्याग करता है, उसी भाव से भावित होकर सदा उसी भाव को प्राप्त होता है।' राजा भरत मृत्युकाल में हरिण के बच्चे की भावना करते हुए देह-त्याग करने के कारण हरिण-योनि को प्राप्त हुए थे, यह कथा पुराणों में प्रसिद्ध है। इसीलिए सभी देशों में आस्तिक लोग मुमूर्षु (मरते हुए मनुष्य) में सात्त्विक भावों को जगाकर उनकी रक्षा करने के लिए मृत्यु के समय नाना प्रकार की बाहरी व्यवस्था करते हैं। मरने वाले मनुष्य के देह को अशुद्ध और अपवित्र वस्तु के स्पर्श से यथासम्भव बचाकर रखना, भगवद्भाव और अन्य प्रकार के सद्भावों को उद्दीप्त करने वाले वचनों को उसे सुनाना, साधुओं का संसर्ग कराना, सद्भाव से पूर्ण होकर मुमूर्षु के समीप बैठना आदि ये सारे उपाय एक ही उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए होते हैं।

मृत्युकालीन भावना का इस प्रकार असाधारण प्रभाव है, इसलिए अन्त समय में शुद्ध भावना बनी रहे; इसका उपाय प्रत्येक कल्याणकामी पुरुष को सीख रखना चाहिए। किसी योग्य उपदेष्टा के आदेश के अनुसार इस एक ही उद्देश्य को लेकर समस्त जीवन की सारी चेष्टाएँ यदि हों, तो मृत्यु के समय मनुष्य निश्चय ही इष्ट-भावना को प्राप्त कर सकता है, और मृत्यु के बाद उसी के अनुसार इष्टगति भी पा सकता है। उपासक की अन्य कर्मों की गति अलग होने पर भी दोनों एक ही मूल-विज्ञान की आलोचना के विषय हैं। अतएव मृत्यु-विज्ञान का मूल सूत्र समझ लेने पर मरण के बाद होने वाली सभी गतियों का रहस्य समझा जा सकता है।

मृत्यु-विज्ञान का माहात्म्य पढ़कर कोई यह न समझ बैठें कि जीवन में साधना की आवश्यकता नहीं है। साधना की बड़ी ही आवश्यकता है, वस्तुतः साधना का अभ्यास इस प्रकार से करना चाहिए, जिसमें जीवित दशा में ही मृत्युकाल की अभिज्ञता प्राप्त हो जाय और मृत्यु के अन्दर से नित्य-जीवन का पता लग जाय।

जो जीते ही मरना जानता है, वह मृत्यु से नहीं डरता। मृत्यु का अतिक्रम किये बिना अतिमृत्यु अवस्था प्राप्त नहीं होती और पूर्ण सत्य का यथार्थ उपलब्धि किये बिना मृत्यु का अतिक्रम नहीं किया जा सकता। जो जीवन-काल में पूर्ण सत्य की उपलब्धि कर पाते हैं, मृत्युकाल में भगवत्कृपा से उनकी वह उपलब्धि अपने-आप अनायास ही आविर्भूत हो जाती है।

यह कहा जा चुका है कि गति मृत्यु के अन्तिम भाव पर निर्भर करती है। साधारणतः परा और अपरा भेद से गति दो प्रकार की है। जिस गति में पुनरावर्त्तन नहीं है, वही 'परा गति' है। जिस गति में ऊर्ध्व अथवा अधःलोकों में जाकर कर्म-फल भोगने के पश्चात् पुनः मर्त्यलोक में जन्म ग्रहण करना पड़ता है, वह 'अपरा गति' है। देवता, मनुष्य, प्रेत, नरक, तिर्यक् आदि योनियों के भेद से गति-भेद हुआ करता है। अर्थात् कर्मवश कोई देवलोक को जाता है और देव-देह प्राप्त करके नानाप्रकार के दिव्य भोगों को आस्वादन करता

है। कोई 'यातना-देह' पाकर नरक-यन्त्रणा भोगता है। उन-उन लोकों में इन सब भोगों के द्वारा कर्मक्षय होने पर शेष कर्मों के कारण फिर मनुष्य-देह में आना पड़ता है।

परागति एक होने पर भी उसमें भेद है। अवश्य ही सभी भेदों में सर्वत्र एक ही वैशिष्ट्य दिखलाई पड़ता है। मृत्यु के साथ ही भगवान् के परम धाम में प्रवेश किया जाता है। अथवा मृत्यु के बाद कई स्तरों में होते हुए, वहाँ पहुँचा जाता है। यह दूसरे प्रकार की गति भी परमा-गति ही है। कारण, इस स्तर से अधोगति नहीं होती, क्रमश: ऊर्ध्वगति ही होती है और अन्त में परमपद की प्राप्ति हो जाती है। तथापि यह परम गति होने पर भी अपेक्षाकृत निम्न अधिकारी के लिए ही है।

इनमें पहली मृत्यु के बाद सद्योमुक्ति है, और दूसरी क्रम-मुक्ति। एक अवस्था और है, जिसमें गति ही नहीं रहती। इस अवस्था में जीवन-काल में ही परमपद का साक्षात्कार हो जाता है। यही जीवन-काल की सद्योमुक्ति अथवा जीवन्मुक्ति है। जो पुरुष यथार्थ में इस अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, उनके लिए फिर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। प्रारब्धवश शरीर चलता है और कर्म का क्षय होने पर शरीर का पात हो जाता है, उस समय अन्तःकरण, बाह्यकरण और प्राणादि सभी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं, लिङ्ग की निवृत्ति हो जाती है; उत्क्रान्ति नहीं होती। देह-त्याग के साथ-ही-साथ विदेह-कैवल्य का लाभ हो जाता है। जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति का भेद केवल उपाधिगत ही है, वास्तविक नहीं।

जन्मान्तर में अथवा मरने के बाद किसी अन्य देह की प्राप्ति न होने से ही जीव को परमपद की प्राप्ति हो जाती है, ऐसी बात नहीं है। क्रम-मुक्ति में, परमपद की ओर जाने के मार्ग में, मध्यम अधिकारी की साधारणत: यही अवस्था होती है। उसको जिन स्तरों अथवा धामों को लाँघकर जाना पड़ता है, वे शुद्ध हैं; उनमें वासना होने पर भी वह शुद्ध वासना है; वे समस्त स्तर मायातीत होने पर भी, महामाया के अन्तर्गत हैं। उनमें अशुद्ध वासना नहीं है, इसलिए वहाँ अशुद्ध स्तरों का अध:आकर्षण नहीं होता। विशुद्ध साधना का आस्वादन इन्हीं सब स्तरों में हुआ करता है। ये सब शुद्ध धाम होने पर भी भगवान् के परमधाम नहीं हैं। इन स्थानों से अधोगति अवश्य ही नहीं होती, परन्तु यहाँ अपूर्णता का बोध रहता है। यहाँ मिलन एवं विरह है, उदयास्त हैं, आविर्भाव तथा तिरोभाव है। यहाँ भगवान् की नित्योदित सत्ता का पूर्ण साक्षात्कार नहीं मिलता। मनुष्य का जन्म क्यों होता हैं? मलिन भोग-वासना ही जन्म में कारण है। कर्तृत्वाभिमान के साथ सकाम-भाव से कर्म करने पर चित्त में नई-नई वासनाओं का उदय होता रहता है। उसके प्रभाव से प्राचीन संस्कार जाग्रत् होकर उन्हें पुष्ट करते रहते हैं। कालभेद से विभिन्न वासनाएँ क्रियमाण-कर्म के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण, साधारणत: विक्षिप्त चित्त में पूर्वक्षणवर्त्ती और परक्षणवर्त्ती वासनाओं में परस्पर विजातीय भेद होने के कारण, कोई भी वासना प्रबल आकार धारण करके फलोन्मुख नहीं हो सकती। कोई भी पहली वासना आगामी विजातीय वासना के द्वारा दबकर किसी योग्य उद्दीपक कारण की प्रतीक्षा करती हुई, अव्यक्त भूमि में सञ्चित रहती है। मन की क्रिया के साथ वासना-भावनादि का स्वाभाविक सम्बन्ध है, परन्तु मन की क्रिया प्राण की क्रिया के साथ सम्बन्धित है। प्राण के निश्चल होने पर मन कार्य नहीं कर सकता। इसी तरह प्राण के

सूक्ष्म हो जाने पर मन की क्रिया भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म हो जाती है। इसी के फलस्वरूप जो वासनाएँ व्यक्त होती हैं या भावनाएँ उदित होती हैं, वे भी सूक्ष्म स्तर की होती हैं। देहस्थ प्राणवाहिनी शिरा का आधार लेकर कार्य करता है। इसी प्रकार मन भी मनोवहा नाड़ी का अवलम्बन लेकर क्रिया करता है। इसीलिए वासना या भावना के तारतम्य के अनुसार विभिन्न नाड़ियों में क्रियाशीलता देखी जाती है। मनुष्य मृत्यु के पूर्वक्षण जो चिन्तन करता है अर्थात् उस समय उसके चित्त में जिस भावना का उदय होता है, वही उसकी अन्तिम चिन्ता या भावना होती है; क्योंकि उसके बाद ही देहगत प्राणों की क्रिया निरुद्ध हो जाती है। इसलिए कोई नई भावना उदय लेकर उस अन्तिम भावना को दबा दे, ऐसी सम्भावना नहीं रहती। अतएव वह अन्तिम भावना ही एकाग्र होकर प्रबल आकार धारण कर लेती है। देहाश्रित विक्षिप्त करण-शक्ति की मृत्युकालीन स्वाभाविक एकाग्रता से भी इस तन्मयता को विशेष पुष्टि मिलती है। एकाग्रता के फलस्वरूप हृदय में एक दिव्य प्रकाश का उदय होता है। मुमूर्षु का (मरने वाले का) अन्तिम भाव इस ज्योतिर्मय प्रकाश में स्पष्ट विकसित हो उठता है और दृष्टिगोचर होता है। तदनन्तर वह अभिव्यक्त भाव ही जीव को यथोचित नाडी-मार्ग अथवा द्वारपथ से निकालकर बाहर ले जाता है और कर्मानुसार भोगायतनशरीर ग्रहण करवाकर निर्दिष्ट काल के लिए सुख-दु:ख का भोग करवाता है।

मृत्युकाल में जिस भाव का उदय होता है, उसका तत्त्व-विश्लेषण करने पर कई बातें जानने में आती हैं। उच्चाधिकार विशिष्ट पुरुष अपने पुरुषार्थ-बल से इष्ट-भाव-विशेष को प्राप्त करके उसे बनाये रख सकते हैं। मध्यमाधिकारी पुरुष की स्वतन्त्रता परिच्छिन्न होने के कारण मृत्यु के समय हृदय में उस भाव-विशेष को उद्दीपित करने के लिए अथवा जिसमें वह भाव पहले से ही अविच्छिन्न भाव से जाग्रत् रहे, इसके लिए उसको जीवन-भर निर्दिष्ट साधन के द्वारा चेष्टा करनी पड़ती है। प्रतिकूल दैव न होने पर भगवान् के मङ्गल-विधान से उसकी वह चेष्टा सफल हो सकती है। दैवशक्ति अथवा महापुरुषों का अनुग्रह होने पर मृत्यु के समय अपनी ओर से किसी प्रकार की विशेष चेष्टा न होने पर भी, निश्चय ही सद्भाव की जागृति हो सकती है। प्रबल आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न पुरुष की, इष्ट देवता की, सद्गुरु की अथवा ईश्वर की दया को इस अनुकूल दैव-शक्ति के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। निम्नस्तर के मनुष्य अधिकांश स्थलों में पूर्व कर्म के अधीन होकर जड़ की भाँति काल के स्रोत में बह जाते हैं।

भाव की जागृति किसी भी प्रकार से हो, भाव के वैशिष्ट्य से ही मृत्यु के बाद जीव की गति निर्दिष्ट होती है। 'जैसा भाव वैसी ही गति', 'अन्त मति सो गति।' जो पुरुष जीवन-काल में ही भाव से अतीत हो गये हैं, जो सचमुच जीवन्मुक्त हैं, उनकी कोई गति नहीं है। वासना-शून्य होने पर गति नहीं रहती, वही श्रेष्ठतम परम गति है।*गीता* में भगवान् ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
य: प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय:।। – *गीता*, ८/५

'अन्तकाल में भगवद्भाव का स्मरण करते हुए देहत्याग कर सकने पर भगवान् का सायुज्य-लाभ किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यहाँ एक रहस्य की बात कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक भावोदय के साथ मन, प्राण आदि की अवस्था और नाड़ी-विशेष की क्रिया का सम्बन्ध है। इसी प्रकार मन, प्राण आदि को निर्दिष्ट प्रकार से स्पन्दित कर सकने पर तदनुसार ही भाव का उदय हुआ करता है, फलत: गति के ऊपर उसका प्रभाव कार्य करता है। आसन, मुद्रा, प्राण, क्रिया प्रभृति दैहिक और प्राणिक चेष्टाओं से मन की क्रिया और भाव आदि नियन्त्रित होते हैं, इस बात को सभी जानते हैं और क्रिया-रूप में उसका प्रयोग भी किया करते हैं। हमारे यहाँ उसका ज्ञान शास्त्रों में और कुछ थोड़े-से महापुरुषों में ही सीमित रह गया है। साधारण लोगों को न उसका कुछ पता है और न उससे कोई लाभ ही उठाते हैं।

गीता के अष्टम अध्याय में दो जगह (श्लोक ९, १० और १२, १३ में) इस विज्ञान का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है। यथा—

कवि पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् य:।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमस: परस्तात्।।
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।। – *गीता*, ८/९-१०

अर्थात् 'यदि कोई मृत्यु के समय भक्ति-युक्त होकर स्थिर चित्त से योगबल के द्वारा सम्यक् प्रकार से भ्रुवों के मध्य में प्राणों को आविष्ट करके उस तम से अतीत, सूर्य की भाँति दीप्तिशील, समस्त जगत् के कर्त्ता और उपदेष्टा, परमसूक्ष्म, प्रज्ञानघन, दिव्य पुराण-पुरुष का स्मरण करता है, वह उनको प्राप्त होता है।'

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्द्य च।
मूर्ध्न्यधायात्मन: प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
य: प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।। – *गीता*, ८/१२-१३

अर्थात् 'सब द्वारों को संयत करके मन को हृदय में निरुद्ध करके, योगधारणा के द्वारा प्राणों को मूर्ध-देश में अथवा मस्तिष्क में स्थापन करके एकाक्षर शब्द-ब्रह्म ॐकार का उच्चारण और भगवान् का स्मरण करते-करते जो देह-त्याग कर जाता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।'

किस प्रकार से देह-त्याग करने पर साक्षात् भाव से भगवत्-स्वरूप की प्राप्ति की जा सकती है, गीता के उपर्युक्त श्लोकों में उसी का वर्णन किया गया है। विचारशील पाठक देखेंगे कि इस वर्णन में संक्षेप में अष्टाङ्गयोग, मन्त्र, भक्ति, ज्ञान आदि भगवत्प्रापक सभी साधनाओं का सार उपदेश भरा हुआ है। भगवत्कृपा से इस विज्ञान-रहस्य को जितना कुछ मैं समझ सका हूँ, उसी का किञ्चित् आभास थोड़े शब्दों में देने की चेष्टा की जाती है। मेरी जड़ता के कारण जो त्रुटियाँ दिखलाई पड़ें, सुधीजन दया करके उनके लिए मार्जना करें।

गीता के वचनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ॐकार के उच्चारण से पूर्व सर्व द्वारों का संयम, हृदय में मन का निरोध और प्राणों का भ्रूमध्यादि (मूर्धापर्यन्त) देश में स्थापन होना आवश्यक है। द्वार संयम अवश्य ही नवद्वारों का नियन्त्रण है।

मनुष्य का शरीर नव द्वारों वाला है। मृत्यु के समय साधारणत: उन्हीं नव द्वारों में से किसी एक द्वार से प्राण बाहर निकलते हैं। अपने-अपने कर्मानुसार पुण्यवान् पुरुष ऊपर के द्वारों से, पापी नीचे के द्वारों से, और मध्य-श्रेणी के पुरुष बीच के द्वारों से जाते हैं (*महाभारत-शान्तिपर्व*, अध्याय २९८)। जीव जिस प्रकार के द्वार-पथ से बाहर निकलता है, उसकी उत्तरकालीन गति भी उसी के अनुसार हुआ करती है। अथवा जो जीव जिस प्रकार की गति प्राप्त करने वाला होता है, कर्म-देवता की प्रेरणा से परवश होकर उस तदनुकूल द्वार से ही बाहर निकलना पड़ता है। परन्तु पुण्यवान् अथवा पापी कोई भी दशम द्वार से अथवा ब्रह्मरन्ध्र-पथ से नहीं निकल सकता। ब्रह्मरन्ध्र उत्क्रमण का मार्ग है। इस पथ से बाहर निकलने पर फिर मानव-आवर्त्त में पुनरागमन नहीं होता। मृत्युकाल में नौ द्वारों के रोकने का प्रधान उद्देश्य यही है कि उन मार्गों से निकलने पर पुनरावर्त्तन अवश्यम्भावी है। उनके बन्द कर देने पर अपुनरावृत्ति द्वार का अथवा ब्रह्म-पथ का खुलना सहज हो जाता है। घड़े के छेद को बन्द न करके उसमें यदि जल भरा जाय, तो जैसे उसमें जल नहीं भरा जा सकता, वैसे ही इन सब बाहरी द्वारों को रोके बिना अन्तर्द्वार के खोलने की चेष्टा व्यर्थ होती है। बाह्य द्वारों के रुक जाने पर निश्चिन्त होकर भीतर का पथ ढूँढकर प्राप्त किया जा सकता है।

परन्तु इन द्वारों को किस प्रकार से संयत करना चाहिए, इसके सम्बन्ध में गीता में स्पष्ट उपदेश नहीं दिया गया है। योगी लोग कहते हैं कि यद्यपि नवद्वारों में से किसी एक द्वार का अवलम्बन करके क्रिया के कौशल से इन द्वारों को रोका जा सकता है, तथापि मुद्रा-विशेष के द्वारा गुद-द्वार को रोक दिया जाय तो सहज ही फल प्राप्त हो सकता है। कुछ ही देर तक उस विशिष्ट मुद्रा का अभ्यास करने पर एक आवेश का भाव उत्पन्न होता है, तब बाह्य-ज्ञान लुप्त हो जाता है और सारे द्वार-पथों में ताला-सा लग लाता है। यही इन्द्रियों का प्रत्याहार है। परन्तु यदि रखना चाहिए कि इस मुद्रा का कार्य करने से पहले पूरक और तदनन्तर कुम्भक प्राणायाम कर लेना आवश्यक है। वायु को स्तम्भित करने के बाद ही मुद्रा का साधन करना पड़ता है। कुम्भक अच्छी तरह कर सकने पर समान-वायु की तेजोबुद्धि होती है। तब प्रबल समान-वायु के द्वारा आकर्षित होकर देह-स्थिति सभी नाड़ियाँ (तिर्यक्, ऊर्ध्व और अध:स्थ) मध्यनाड़ी या सुषुम्णा में एकीभूत हो जाती हैं और उन-उन नाड़ियों में सञ्चरणशील वायु-समूह भी समरस होकर एकमात्र प्राण के रूप में परिणत हो जाता है। यही नाड़ी का सामरस्य है। इसके बाद, सुषुम्णा-नाड़ी ऊर्ध्व-स्रोतस्विनी है, या वह ऊपर की ओर बह रही है, इस प्रकार की भावना करनी पड़ती है। सुषुम्णा देह-स्थित सब नाड़ियों के बीच में है। यह नाभि से लेकर मस्तकस्थ ब्रह्म-रन्ध्र का भेद करके शक्ति-स्थान-पर्यन्त विस्तृत है। इस साधन के फलस्वरूप सभी नाड़ियाँ और हृदयादि समस्त ग्रन्थि-कमल (कुम्भक और मुद्रा के प्रभाव से) रुककर (भावना के बल से) सर्वतोभाव से विकसित हो जाते हैं, ऊपर की ओर बहने लगते हैं।

हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य आदि स्थानों में प्राण-शक्ति सरल गति से रहित होकर कुटिल या वक्र हो गई है। इसी से उन सब स्थानों को ग्रन्थि कहते हैं। इन ग्रन्थियों के सङ्कोच-विकासशील होने के कारण इन्हें पद्म या कमल भी कहते हैं।

द्वार-संयम या प्रत्याहार सिद्ध होने पर, अर्थात् इन्द्रिय और प्राणों के प्रत्याहृत होने पर, मन की बहिर्मुखी प्रेरणा निवृत्त हो जाती है। कारण, इन्द्रिय ही वायु की सहकारिता से मन का बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध करती है। द्वार-संयम सिद्ध हो जाने पर योग का बहिरङ्ग अंश सम्पन्न हो जाता है।

अन्तरङ्ग-अंश तब भी शेष रहता है, वह मनोनिरोध के द्वारा सम्पन्न होता है। धारणा, ध्यान और समाधि नामक अन्तरङ्ग-योग वस्तुत: मनोनिरोध के ही क्रमिक उत्कर्ष के नाम हैं। मन के निरोध का स्थान है—हृदय। द्वार-संयम के बाद इन्द्रिय-पथ रुक जाने के कारण यद्यपि बाह्य जगत् में नहीं जाया जा सकता, तथापि वह देह के अन्दर प्राणमय राज्य में अबाध सञ्चरण करता रहता है। इस सञ्चरण के फलस्वरूप सुप्त संस्कार-समूह जाग्रत् होकर स्वप्न की भाँति दृश्य एवं दर्शन के कारण बन जाते हैं। स्थिरता-प्राप्ति के मार्ग में यह एक बहुत बड़ा प्रतिबन्धक है। यह पहले कहा जा चुका है कि मन के सञ्चरण-मार्ग का नाम मनोवहा नाड़ी प्रसिद्ध है। पूरे देह में व्याप्त अति सूक्ष्म आध्यात्मिक-वायु के सहारे सूत के तन्तुओं से बने जाल की भाँति एक बहुत ही जटिल नाड़ी-जाल फैला हुआ है। यह देखने में अनेकांश में मछली के जाल के समान है और बीच-बीच में कूट-ग्रन्थियों के द्वारा संयोजित है।[१]

मन सूक्ष्म प्राण की सहायता से वासनानुसार इन स्थानों में भ्रमण करता है और नाना प्रकार के दृश्य देखता है। इन दृश्यों का देखना और तज्जनित भावों का उदय होना, पूर्व-संस्कार का ही पुन: अभिनय है। इन्द्रिय-पथ के द्वारा जो आत्मतेज अब तक बाह्य जगत् में फैला हुआ था, वही इन्द्रियों के रुक जाने के साथ-साथ उपसंहृत होकर अन्दर संस्कार-राज्य में फैल जाता है। उस समय बाह्य अनुभव, यहाँ तक कि बाह्य स्मृति तक लुप्त हो जाती है। इसी से इन संस्कारों के दर्शन अत्यन्त स्पष्ट और जीवित के सदृश अनुभूत होते हैं। साधारणत: बहुत-से लोग इनको ध्यानजनित दर्शन कहा करते हैं, परन्तु वास्तव में इनका बहुत अधिक मूल्य नहीं है। विक्षिप्त चित्त में ही ऐसा हुआ करता है। बाह्यज्ञान लुप्त होने के साथ ही इन सारे दर्शनों का उदय होता है। सत्य की खोज में लगे हुए योगी के लिए यह आवश्यक है कि वह इस प्रकार के दर्शनों से यथासम्भव अपने को बचाकर चले, इनमें फँस न जाय। मन की चञ्चलता या चलन-शक्ति के रुके बिना, ऐसा होना सम्भव नहीं।

परन्तु प्राण को स्थिर किये बिना मन की इस चञ्चलता को दूर करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिए द्वार-संयम के बाद और मनोनिरोध के पहले प्राणों को स्थिर करने की आवश्यकता का अनुभव होता है। योग-धारणा के द्वारा देह के अन्दर नाना प्रकार के कार्य करने वाली प्राण-शक्ति को भ्रू-मध्य में और भ्रू-मध्य से मूर्धा-पर्यन्त स्थापन करना पड़ता है। प्राण-शक्ति के संचार-क्षेत्र की असंख्य नाड़ियों को एक नाड़ी में परिणत किये बिना असंख्य प्राण-धाराओं को एक मार्ग पर चलाना और समस्त प्राणों को एक स्थान

में एकत्र करना सहज नहीं होता। श्रीभगवान् ने योग-बल और योग धारणा के द्वारा इसी योजनात्मक कार्य की ओर सङ्केत किया है। इसे किस प्रकार करना पड़ता है, इसका कुछ आभास ऊपर दिया जा चुका है।[२] द्वार-संयम या प्रत्याहार द्वारा जैसे मन की इन्द्रियाभिमुखी बहुमुखी धारा रुकती है, वैसे ही इस योग-धारणा के प्रभाव से प्राण की बहुमुखी धाराएँ एकत्र होकर मिल जाती हैं। प्राण की विभिन्न धाराएँ इडा और पिङ्गला के मार्ग से द्विधा विभक्त होकर सहज ही भ्रू-मध्य में गुप्त धारा सुषुम्णा के साथ मिलकर एक हो जाती है, यही ऊर्ध्व में त्रिवेणी-सङ्गम है। अथवा पहले मूलाधार में, अध:स्थ त्रिवेणी-क्षेत्र में, ये दोनों धाराएँ सुषुम्णा के साथ सङ्गत होती हैं। इसके बाद वह एकीभूत हुई धारा क्रमश: ऊपर उठकर भ्रू-मध्य में पहुँचकर स्थिर हो जाती है। इधर विक्षिप्त मन-शक्ति भी चञ्चलता छोड़कर हृदय-प्रदेश में सो जाती है। मन स्थिर होने पर वह नाड़ी-मार्ग में नहीं रहता। नाड़ियाँ मन के सञ्चरण के मार्ग-मात्र हैं। मन जितना ही स्थिर होता जाता है, उतना ही नाड़ी-चक्रस्थ वायुमण्डल संकुचित होकर हृदयाकाश में प्रविष्ट हो जाता है। तब मन की चञ्चलता शान्त हो जाती है, मन निरुद्ध-वृत्तिक होकर स्थित रहता है।

यह हृदय या दहर आकाश ही स्थिर मन के रहने का स्थान है।

यतो निर्याति विषय: यस्मिंश्चैव प्रलीयते।
हृदयं तद्विजानीयान्मनस: स्थितिकारणम्।।

हृदय पुरीतत्-नाड़ी के द्वारा घिरा हुआ शून्यमय अवकाश है। जब मन इस अवकाश को प्राप्त हो जाता है, तब वह निर्वात-देश में स्थित होने के कारण अचल हो जाता है। यही मन का निरोध है। मन की क्रियाओं का अभाव होने के कारण उस समय वृत्ति-ज्ञान नहीं रहता। इसलिए सुषुप्ति में मानसिक वृत्ति-रूप ज्ञान का अभाव होता है। द्वार-संयम हो जाने से इन्द्रियों के विषयों का सन्निकर्ष नहीं रहता, इस कारण जाग्रत् ज्ञान नहीं होता और मन की वृत्तियों के स्तम्भित हो जाने के फलस्वरूप जाग्रत् ज्ञान नहीं होता और मन की वृत्तियों के स्तम्भित हो जाने के फलस्वरूप स्वप्न-ज्ञान भी नहीं होता। अतएव यह जाग्रत् और स्वप्न नामक दोनों अवस्थाओं से अतीत सुषुप्ति के सदृश एक अवस्था है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

केवल सुषुप्ति के सदृश ही नहीं, यह जड़वत् अवस्था है। कारण, सुषुप्ति में मन के कार्य न करने पर भी, प्राण निष्क्रिय नहीं रहता। मनुष्य अज्ञान में निमग्न रह सकता है, ज्ञान और ज्ञानमूलक कोई वृत्ति नहीं रह सकती; किन्तु उस समय भी देहरक्षण के उपयोगी श्वास-प्रश्वास आदि की प्राण-क्रिया तो होती ही रहती है। परन्तु इस अवस्था में प्राण भी अपने-अपने कार्यों से छुट्टी लेकर स्थान-विशेष में स्थिर हो जाते हैं। अतएव ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय की भाँति मन और प्राण के भी निस्तब्ध हो जाने के कारण, उस समय मनुष्य एक तरह से शव-अवस्था को प्राप्त हो जाता है, परन्तु मन की यह जो सुषिप्तिवत् स्थिरता है, यह वास्तविक स्थिरता नहीं है। यह तमोगुण का आवरण-मात्र है। यह यथार्थ निरोध नहीं है। एकाग्रता के बाद ही निरोध होता है, एक के बाद एक एकाग्रता की समस्त सूक्ष्म भूमियों को लाँघ जाने पर निरोध अपने-आप ही आ जाता है, इसीलिए योगी लोग सम्प्रज्ञात-समाधि के बाद ही निरोधात्मक असम्प्रज्ञात-समाधि को योग-पद पर

वरण करते हैं। यही 'उपाय-प्रत्यय' है। सम्प्रज्ञात के हुए बिना प्राकृतिक कारणवश यदि मन का निरोध हो जाता है, तो वह असम्प्रज्ञात होने पर भी 'भव-प्रत्यय' है, योग-पद का वाच्य नहीं है।

मन को संस्कृत या शुद्ध किये बिना उसे स्थायी रूप में निरुद्ध नहीं किया जा सकता; कारण, उसमें बीज का ध्वंस नहीं होता। डूबी हुई चीज के पुन: ऊपर उठ आने की भाँति उसका फिर व्युत्थान होता है, पुनरावृत्ति होती है। प्रज्ञा का उदय होकर क्रमश: उसका निरोध होना ही आवश्यक है। जैसे पूर्णिमा के बाद चन्द्रकला का क्रमश: क्षय होते-होते बिलकुल कलाहीन अमावस्या हो जाती है, वैसे ही इसको भी समझना चाहिए।

इसलिए हृदय से मन को चेतन करके उठाना होगा। वस्तुत: चेतन करना और उठाना एक ही चीज है। सुषुम्णा का स्रोत ही चैतन्य की धारा है, मन को जगाकर ऊर्ध्वमुखी सुषुम्णा की धारा में डाल देना होगा। यह जाग्रत् मन ही मन्त्र-स्वरूप है, जिसको एक तरह से प्रबुद्ध कुण्डलिनी की स्फूर्त्ति भी कहा जा सकता है। शिवसूत्र में एक सूत्र है—**चित्तं मन्त्र:।** इस सूत्र में इसीलिए चित्तं या मन को मन्त्र कहा गया है। प्राण सुषुम्णा के स्रोत में बहकर ऊपर चले गये हैं। मन को भी उसी स्रोता का सहारा पकड़ना होगा, तभी प्राण और मन का पूर्ण मिलन सम्भव होगा। इस मिलन से ही दिव्य-ज्ञान का उदय होता है। अतएव हृदय में जिस मन के रोकने की बात कही गई है, उसे अशुद्ध मन का रोध ही समझना चाहिए। इसके बाद विशुद्ध सत्त्वात्मक मन का विकास (ऊर्ध्वारोहण-मार्ग से), उसका क्रमिक क्षय और गीता के ॐकार के उच्चारण का कार्य होता है।

और एक बात है। हृदयरूपी शून्य में जैसे असंख्य नाड़ियों का पर्यवसान होता है, वैसे ही असंख्य नाड़ियों के एकीभूत होने पर जिस ऊर्ध्वस्रोता महानाड़ी का विकास होता है, उसका भी पर्यवसान एक महाशून्य में हुआ करता है। हृदयाकाश में जैसे सञ्चार नहीं है, वैसे ही इस महाकाश में भी सञ्चार नहीं है। परन्तु हृदयाकाश जैसे गतागत के अतीत नहीं है; कारण, बहुमुखी मन यहाँ आकर लीन होने पर भी व्युत्थित हो फिर बहुमुखी होकर दौड़ता है। वैसे ही यह महाकाश भी गतागत से अतीत नहीं है। यहाँ एकीभूत मन विलीन होने पर भी वह फिर उठकर एकमुखी होकर चलता रहता है। यद्यपि यहाँ मन की बहुमुखी गति पहले ही निवृत्त हो चुकी है, फिर भी उसकी एकमुखी गति तो है ही, गति का सर्वथा निरोध नहीं है। यह नित्य निर्विकार अवस्था नहीं है। इसलिए इस महाकाश से भी मन को ऊपर उठाना होगा। इसके ऊपर उठाने पर वहाँ न नाड़ी है और न गति ही है। यह निरोधावस्था है। परन्तु गति न होने पर भी, वहाँ भी मन का कम्पन रहता है; वह है—विकल्प या मन का स्वभाव। इस विकल्प का भी उदयास्त है। जब इस कम्पन का भी पर्यवसान हो जाता है, तभी विकल्पहीन चैतन्यसूर्य का साक्षात्कार होता है। यह विकल्प मन की अतीत भूमि है। इसका उदयास्त नहीं है, इसलिए यह नित्योदित है, नित्य प्रकाशमान है। यह पूर्ण प्रकाश-स्वरूप आत्मा या ब्रह्म है। विकल्पहीन मन तब तक इस प्रकाश के साथ अभिन्न होकर विमर्श-रूप में अथवा चिदानन्दमयी स्वरूप-शक्ति के रूप में स्थित रहता है। यह स्वरूप-विमर्श ही ब्रह्मविद्या है। परावाक् अथवा शब्द ब्रह्मरूप ॐकार है। यह निष्फल होकर भी समस्त विद्यास्वरूपा है।

अतएव हृदय से मूलमन्त्र-स्वरूप इस ॐकार का उच्चारण ही पूर्ण ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का सोपान है। निष्कल ॐकार में उसकी ग्यारह कलाएँ भासती हैं। उच्चारण के प्रभाव से एक के बाद एक कला का विकास होता है और तत्तत् अनुभूतियों की जागृति होती है। क्रम-विकास के मार्ग में निम्नस्थ कला की अनुभूति ऊर्ध्वस्थ कला की अनुभूति में स्थित हो जाती है। योगी लोग ग्यारह कलाओं को अ, उ, म, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना—इन ग्यारह नामों से पुकारते हैं। ॐकार की इन ग्यारह कलाओं के अनुभव के बाद ही उसके निष्कल अनुभव का उदय होता है, वही परमानुभूति है। ये दोनों अनुभूतियाँ मिलकर ही पूर्ण ब्रह्मविद्या कहलाती हैं। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त जो मार्ग गया है, उसी मार्ग को पकड़कर साधक को चलना होता है। प्रणव की सारी कलाओं, उनसे सम्बन्धित देवताओं और स्तरों का अनुभव इसी मार्ग में हुआ करता है। हृदय, कण्ठ और तालुमूल—ये तीन स्थान अ, उ और म—इन तीन कलाओं के केन्द्र हैं। तालु माया-ग्रन्थि का स्थान है, हृदय और कण्ठ भी ग्रन्थि-स्वरूप हैं। भ्रू-मध्य-बिन्दु ग्रन्थि का स्थान है, यहाँ ज्योति के दर्शनहोते हैं। यह ज्योति अ, ऊ और म—इन तीन मात्राओं के मन्थन से निकली हुई, उन्हीं का सारभूत तेज है। इन तीन मात्राओं में जगत् के सारे भेद और वैचित्र्य भरे हैं और बिन्दु उनका संक्षिप्त, अविभक्त ज्ञानात्मक स्वरूप है। अतएव समस्त मायिक जगत् इन पहली तीन कलाओं में ही स्थित है। इसमें कोई सन्देह नहीं। स्थूल, पुर्यष्टक (लिङ्ग) और शून्य अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन भागों में विभक्त समग्र द्वैत-जगत्, इन तीन कलाओं में प्रतिष्ठित है। चतुर्दशभुवनान्तर्गत ब्रह्माण्ड इसी का एक देशमात्र है। माया-ग्रन्थि का भेद होने के साथ ही मायिक जगत् और उसकी कारणभूता माया अतिक्रान्त हो जाती हैं। मायिक जगत् में मन्त्र और देवता अथवा वाच्य और वाचक का भेद रहता है। इस जगत् में द्रष्टा दृश्यमात्र को अपने से अलग देखता है। यह भेद-दर्शन माया का कार्य है और सभी मायिक स्तरों में इसकी उपलब्धि होती है। बिन्दु में इस वैचित्र्य के अनुगत केवल अभेद के दर्शन होते हैं। यही अनन्त भेदों का एकीभूत भाव में अथवा अविभक्त रूप में दीखना है। अनन्त ज्ञेय पदार्थ यहाँ एक ज्ञान के आकार में प्रतिभासित होते हैं, यही ज्योति-रूप में उनका दृष्टिगोचर होना है। यह ज्योति-रूप बिन्दु ही ईश्वर-तत्त्व की अधिष्ठान-भूमि है। ईश्वर योगीश्वर है। साधक बिन्दु का साक्षात्कार करके एक प्रकार से अखिल स्थूल प्रपञ्च के ही दर्शन करता है। बिन्दु-ध्यान के फलस्वरूप त्रिकालदर्शी होने का यही कारण है। ध्यान के उत्कर्ष से ईश्वर-सायुज्य तक प्राप्त हो सकता है। इस बिन्दु-सिद्धि को ही लौकिक दृष्टि में दिव्य चक्षु अथवा तीसरे नेत्र का खुल जाना कहते हैं।

योगी लोग 'बिन्दु' से समना तक आठ पदों का परिचय प्राप्त करते हैं। ये सब[३] आज्ञा-चक्र से सहस्रार की कर्णिका तक फैले हुए विशाल मार्ग के अन्तर्गत हैं। यह मार्ग माया से अतीत होने पर भी, महामाया की सीमा के अन्तर्गत है। जो लोग अशुद्ध विकल्प-जालरूपी भेदमय जगत् से मुक्त होना ही वाञ्छनीय समझते हैं, वे आज्ञा-चक्र का भेद करके महामाया के राज्य में प्रवेश करने को ही मुक्ति मानते हैं। परन्तु वस्तुत: यही मुक्तिपद नहीं है। यद्यपि यहाँ कर्मजाल उपसंहृत है, माया क्षीण है; तथापि विशुद्ध विकल्प तो है ही। परमपद के यात्री के लिए यह बन्धन-स्वरूप है। महामाया के राज्य में भेदाभेदमय अभेद-दर्शन होने के कारण इसके

उपादेय होने पर भी, यह परम उपादेय नहीं है। कारण, भेद-दर्शन का सम्यक् रूप से अन्त हुए बिना अर्थात् निर्विकल्प-पद पर अधिरूढ़ हुए बिना पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती।

मायिक जगत् में जैसे विविध लोक हैं, महामाया के शुद्ध राज्य में भी वैसे ही अनेक धाम हैं। प्रत्येक स्तर में उस स्तर के उपयोगी जीव हैं, भोग्य वस्तुएँ हैं, और भोगों के उपकरण हैं। प्रत्येक स्तर की अनुभूति विलक्षण है। जितना ही ऊँचा आरोहण किया जाता है, उतना ही अभेदानुभव बढ़ता जाता है। ऐश्वर्य और शक्ति प्रबल होती जाती है। व्याप्ति बढ़ती जाती है और देश-कालगत परिच्छेद घटता जाता है।

'अ'कार की मात्रा १, 'उ'कार की मात्रा २, और 'म'कार की ३; सब मिलकर ६ मात्राएँ हैं। बिन्दु अर्धमात्रा है, अर्धचन्द्र आदि की मात्रा क्रमशः और भी कम है। बिन्दु से 'समना' तक मात्रांश को जोड़ देने पर १ मात्रा होती है।[४] यद्यपि मायाजगत् में मन्त्र की ६ मात्राएँ हैं, परन्तु मायातीत पद में वह केवल एक ही मात्रा है। वह एक मात्रा भी सूक्ष्म है और सूक्ष्मतर होते-होते सर्वत्र व्याप्त होकर कार्य करती है।

हम पहले ही कह आये हैं कि बिन्दु में ज्ञेय और ज्ञान अथवा वाच्य और वाचक अभिन्न रूप में ज्योति के आकार में स्फुरित होते हैं। यह अभिन्नता ऊपर और भी परिस्फुट होती है। जितना ही ऊपर चढ़ा जाता है, उतना ही ज्ञानात्मक ज्ञेयभाव क्रमशः चला जाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनों में प्रथमावस्था में (माया की भूमि में) परस्पर स्पष्ट ही अत्यन्त पार्थक्य दिखलाई देता है। फिर अनन्त ज्ञेय-राशि एक विशाल ज्ञान में पिण्डित होकर उसके साथ अभिन्न भाव से प्रकाशित होती है, तब एक ही अभेद-ज्ञान रह जाता है; उसी के अन्दर सारे भेद निहित रहते हैं। वह ज्ञान और वह प्राथमिक ज्ञान एक नहीं है। प्राथमिक ज्ञान अशुद्ध विकल्प-रूप था और यह ज्ञान विकल्प-रूप होने पर भी, विशुद्ध है। इसके बाद क्रमशः यह विशुद्ध विकल्प भी शान्त हो जाता है। महामाया की ऊर्ध्व-सीमा का अतिक्रमणकरने के साथ-साथ यह विशुद्ध विकल्प भी बिलकुल शान्त हो जाता है। अर्थात् यह विशुद्ध विकल्प ज्ञाता में अस्तमित हो जाता है। तब एकमात्र ज्ञाता ही रह जाता है। यही शुद्ध आत्मा की द्रष्टा रूप में स्वरूपावस्थिति है। कहना नहीं होगा कि पूर्वावस्था का ज्ञाता और यहाँ का ज्ञाता या द्रष्टा, एक-सा नहीं है। उस ज्ञाता में विकल्प का संस्पर्श था, उसके ज्ञान से विकल्प हट नहीं गया था; परन्तु यह ज्ञाता विकल्प से अतीत है। इस अवस्था में द्रष्टा आत्मा समग्र मनोराज्य और विकल्पमय विश्व से उत्तीर्ण होकर अपने बोधमात्र-स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। यह विश्वातीत आत्मा निर्विकल्प ज्ञान के प्रभाव से समना-भूमि को लाँघकर अपने को निर्मल और निर्विकल्प समझता है। परन्तु इसमें भी पूर्णता नहीं है। कारण, इस अवस्था में विश्व अथवा विकल्प से अपने शुद्ध विकल्पातीत रूप का भेद वर्तमान रहता है। इसमें भी पूर्णता का संकोच है। इसके बाद पराशक्ति के अथवा उन्मना-शक्ति के आश्रय से केवली पुरुष परमावस्था या पूर्ण ब्रह्मरूप में स्थिति प्राप्त करता है, तब विकल्प और निर्विकल्प का भेद भी मिट जाता है। इसीलिए पूर्ण सत्य ही अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति में या अपनी स्वरूप-महिमा में अपने निरञ्जन-स्वभाव से अच्युत रहता हुआ ही, विश्वरूप में प्रतिभासित होता है।

ॐकार की ग्यारहवीं कला की अनुभूति ही समस्त अनुभूतियों में चरम महामाया अथवा समना-शक्ति की अनुभूति है। इसमें नीचे के समस्त स्तरों की अनुभूतियाँ अङ्गीभूत रूप से वर्तमान रहती हैं। यही आत्मा का भिन्नाभिन्न रूप में विश्व-रूप-दर्शन है। पूर्ण निर्विकल्प ज्ञान से पूर्व इसका निश्चय ही उदय होता है। ॐकार की यह अन्तिम कला या महामाया ही विकल्प या इच्छाशक्तिरूपिणी है, यही विशुद्धतम मन का स्वरूप है। इस अवस्था में जो मननात्मक बोध अवशिष्ट रहता है, उसमें कोई भी विषय नहीं रहता, सारे विषय पहले ही क्षीण हो जाते हैं। यह मन्तव्यहीन मनन है, इसीलिए अविकल्प है। पर इस मनन का भी त्याग करना पड़ता है। अविकल्प मन के द्वारा ही इस अविकल्पात्मक शुद्ध मन का परिहार होता है। शुद्ध मन एकाग्रता का प्रकर्ष प्राप्त करते ही त्यक्त हो जाता है। मन के त्याग का अर्थ आत्मा या जीव के सङ्कोचात्मक ज्ञान का प्रशमन समझना चाहिए। इस सङ्कोचात्मक ज्ञान का स्वरूप है—ज्ञेयाभ्यास के ग्रहण की इच्छा। इस इच्छा के त्याग से ही आत्मा, सत्ता या चिन्मात्र स्वरूप में स्थित होता है। यह विशुद्ध कैवल्य-दशा है, मन की अतीत इच्छाहीन अवस्था है। परन्तु यह भी परमपद नहीं है, भगवत्साधर्म्य नहीं है, पूर्णाहन्ता और चिदानन्द-रसघन-स्वातन्त्र्यमय रूप इसका नहीं है। इसलिए आत्मा विश्वातीत रहने पर भी, अपूर्ण रहता है; मुक्त होने पर भी, भगवद्धर्म से वञ्चित रहता है। यहीं पर भगवान् की स्वतन्त्रभूता नित्य-समवेता स्वरूपशक्ति या उन्मनाशक्ति की उल्लासरूपिणी 'पराभक्ति' आवश्यक होती है। '**भक्त्या युक्तः**' (*गीता,* ८/१०) से भगवान् ने पराभक्ति का ही लक्ष्य कराया है। उन्मनाशक्ति एक ही साथ अशेष विश्व के अभेद-दर्शन में स्फुरित होती है। आत्मा इस शक्ति के आश्रित होकर भगवान् के साथ एकात्मकता या पूर्णता प्राप्त करता है, फिर चलन नहीं रह जाता। सङ्कोच बिलकुल ही मिट जाता है। आत्मा व्यापकत्व प्राप्त करके एक ही साथ विश्वरूप में प्रकाशित होता है। अर्थात् पहले आत्मा विश्व को अतिक्रम करके अपने निर्विकल्प-पद को पहुँचता है, फिर भगवान् की परमा शक्ति के अनुग्रह से अपने पूर्णत्व को उपलब्ध करता है, भगवान् से अभिन्नता का अनुभव करता है। तब वह अनुभव करता है कि उस पूर्ण सामरस्यमय स्वरूप में एक ओर जैसे अनन्त शक्ति का सामरस्य है, दूसरी ओर वैसे ही शक्ति और शक्तिमान् का भी सामरस्य है। उसमें विश्व और विश्वातीत एक अखण्ड-बोध या प्रकाश के रूप में स्फुरित होता है। बन्धन-मोक्ष का भेद, सविकल्पक-निर्विकल्पक का भेद, मन और आत्मा का भेद एवं दृश्य और द्रष्टा का भेद सदा के लिए सर्वथा मिट जाता है। इस अवस्थातीत अवस्था की उपलब्धि ही परागति है। *गीता* में भगवान् कहते हैं—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।। ८/२२

परम पुरुष ही समग्र विश्व में व्यापक हैं, उन्हीं के अन्दर सर्वभूत (विश्व) विद्यमान है, इस बात का यहाँ स्पष्ट उल्लेख है। अनन्य भक्ति और पराभक्ति के अतिरिक्त उनके इस परम स्वरूप को प्राप्त करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह विश्वरूप ही उनका 'परमरूप' है, इस बात को भगवन् ने अर्जुन से स्पष्ट ही कहा है (*गीता* ११/४७)। यह 'तेजोमय' शुद्ध चिन्मय रूप है; वेत्ता और वेद्य, ज्ञाता और ज्ञेय इसके अन्तर्गत हैं (*गीता* ११/३८) यही 'परमधाम' है (*गीता* ११/३८)।

मृत्युकाल में प्रणव का उच्चारण करते-करते कला-त्याग होने पर निष्कल पराविद्या या दिव्य ज्ञान का आविर्भाव होता है, तब भगवान् की अनन्य भक्ति के प्रभाव से उनका परमरूप प्रकाशित हो उठता है। मरणोत्तर परमा गति है।

वस्तुत: वह मृत्युकालीन 'निर्बीज' वैज्ञानिक दीक्षा का फल है। शास्त्रों में इसकी बड़ी भारी महिमा गाई गई है।

परमपद

प्राचीन संस्कृत-साहित्य के विभिन्न स्थलों में वर्णित है कि परम-पद मनुष्य-जीवन का परम लक्ष्य है। परन्तु, उसका स्वरूप क्या है, इस विषय में सर्वत्र स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता। वेद में आया है—

तद् विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय:। दिवीव चक्षुराततम्।।

इससे प्रतीत होता है कि दिव्य सूरिगण विष्णु के परमपद को निरन्तर निर्निमेष-दृष्टि से देखते हैं, इसका स्वरूप ठीक एक चक्षु के आकार के सदृश है। द्युलोक में व्याप्त चक्षु का आकार जैसा है, इसका आकार भी ठीक वैसा ही समझना चाहिए। 'सदा पश्यन्ति' इस वाक्यांश से प्रतीत होता है कि इस पद का दर्शन निमेष-उन्मेषयुक्त दृष्टि से हो नहीं सकता। जब तक दृष्टि का निमेष तथा उन्मेष-क्रिया निवृत्त नहीं होती, तब तक परमपद का दर्शन दुर्घट है। दृष्टि के उन्मेषादि व्यापार वस्तुत: प्राण तथा मन के चञ्चल होने के कारण होते हैं। जब प्राण, मन तथा इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं तब केवल ज्ञान-नेत्र से इस प्रकार के दर्शन होते हैं। ज्ञान-नेत्र ही मनुष्य के तृतीय नेत्र के रूप में प्रसिद्ध है। जब तक इस ज्ञान-नेत्र का उन्मीलन नहीं होता तब तक अर्थात् अज्ञानावस्था में परमपद का दर्शन नहीं हो पाता। इस पद में प्रवेश हो सकता है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर इस मन्त्र में नहीं है; किन्तु इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर हो सकते हैं। निम्नाङ्कित परिलेख से यह विषय विशेष रूप से स्पष्ट होगा।

परमपद (सूरियों की दृष्टि में सदा प्रकाशमान)

<table>
<tr><td colspan="4">प्रवेश योग्य</td><td>प्रवेश योग्य नहीं (५)</td></tr>
<tr><td colspan="2">देहावस्था में</td><td colspan="2">देहान्त में</td><td></td></tr>
<tr><td>प्रवेश करने पर देहपात होता है निर्गम नहीं होता। यह अपक्व देह की बात है। (१)</td><td>प्रवेश करने पर भी देह रहता है, परन्तु देह का बोध नहीं रहता। निर्गम के साथ-ही-साथ देह-बोध का उदय होता है। यह पक्व या सिद्धदेह की बात है। (२)</td><td>स्वेच्छा से देह-बोध त्याग करने पर प्रवेश होता है। (३)</td><td>मृत्युकाल में देह-बोध निवृत्त होने पर प्रवेश होता है। (४)</td><td></td></tr>
</table>

ऊपर अङ्कित तालिका में पाँच विकल्पों का निर्देश मिलता है। पहले तो यह मान लिया गया है कि परमपद में प्रवेश नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि आज तक कोई उसमें प्रवेश नहीं कर सका। यह पञ्चकोटि का सिद्धान्त है, परन्तु दिव्य सूरिगण परमपद का दर्शन करते हैं। यदि ऐसा न होता तो इस विषय में किसी प्रकार की

समीक्षा ही नहीं हो सकती। उक्त सूरियों का देह त्रिगुणात्मक नहीं है, परन्तु अप्राकृत, विशुद्ध सत्त्वमय है। किसी-किसी सूरि के देह में उसके साथ-ही-साथ प्राकृत गुणों का समावेश भी रहता है। जिनके देह में प्राकृत गुणों का सम्बन्ध बिलकुल नहीं रहता, उनका नाम 'दिव्यसूरि' है, और लोग केवलमात्र 'सूरि' कहे जाते हैं।

१. यह उस अवस्था का नाम है, जिसमें प्राकृत देह का पाक नहीं हुआ तथा अप्राकृत अवस्था का उन्मेष भी नहीं हुआ। इस अवस्था में, उक्त पद में प्रवेश करने पर प्राकृत देह छूट जाता है तथा अनूदित अप्राकृत देह परम-धाम में ही रह जाता है, लौटता नहीं।

२. ३. यह पक्व-देह की बात है। इस देह का यथार्थ नाम है—सिद्धदेह। इसमें प्रवेश करने पर सिद्ध देह प्रणव-देह के रूप में परिणत हो जाता है।

निर्गम होने पर सिद्ध देह रह जाता है, मृत्यु नहीं होती। द्वितीय तथा तृतीय दोनों ही अवस्थाओं में अमरत्व की प्राप्ति है।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवान् के परमधाम का वर्णन है—**'तद्धाम परमं मम।'** इस धाम का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें प्रवेश होता है, परन्तु इससे प्रत्यावर्त्तन नहीं होता। इसीलिए कहा गया है—**'यद्गत्वा न निवर्तन्ते।'** यह स्थान चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि के नियन्त्रण से ऊपर है। इससे सिद्ध होता है कि यह व्युत्थानहीन निरोध के सदृश एक अवस्था-विशेष है। निरोध तथा व्युत्थान एक ही पर्याय की दो अवस्थाएँ हैं। परन्तु ऐसी अवस्था भी है, जब निरोध के बाद व्युत्थान होता ही नहीं; इसे *प्रत्यभिज्ञा-हृदय* में नित्योदित समाधि कहा गया है। इस अवस्था में तथाकथित व्युत्थान होने पर भी समाधि का एकरस भाव छूटता नहीं। *क्रमसूत्र* में इसके स्वरूप के विषय में विवरण मिलता है। अवश्य, उसके बाद निरोध भी नहीं होता। यह ज्ञान-संप्रसाद, वैराग्य या धर्ममेघ-समाधि की अवस्था है। दश बोधिसत्त्व-भूमियों की स्थिति में यही दशम या अन्तिम भूमि के रूप में है। प्राचीन बौद्धों के संज्ञावेदना-निरोध के साथ इसकी तुलना हो सकती है। अस्पर्शयोग भी इसके ही अनुरूप योग-स्थिति है।

गीता में स्थानान्तर में प्रवेश की बात भी है। यथा—**'विशते तदनन्तरम्।'**

जब विष्णु का पर-पद है, तब अपर-पद भी मानने पड़ेंगे। वे भी भगवद्धाम हैं, परन्तु उनमें से अवतरण होता है अर्थात् उनमें प्रवेश करने के बाद उनसे प्रत्यावर्त्तन हो सकता है।

वैष्णव-सम्प्रदाय में, विशेषकर श्रीसम्प्रदाय में परमपद वास्तव में पर-व्योम, परम-व्योम, वैकुण्ठ आदि विभिन्न नामों से भी अभिहित होते हैं। भगवान् की यही नित्यविभूति है। उनकी लीलाविभूति भी है। उनके चार चरणों में त्रिपादविभूति नित्य है और एकपाद-विभूति लीलारूप है। नित्य-विभूति[५] अप्राकृत, अरचित, उदयास्तहीन और स्वयंप्रकाश है।

इस परमपद के विषय में आलोचना के योग्य विभिन्न तत्त्व हैं। यहाँ जो 'वैकुण्ठ' शब्द का प्रयोग किया गया है, यह सामान्य अर्थ में समझना चाहिए। मध्व-सम्प्रदाय के आचार्यगण अनन्तासन, श्वेतद्वीप और वैकुण्ठ में भेद मानते हैं। इनके मत में परमपद 'दिव: पर:' अर्थात् द्युलोक के ऊपर हैं। पृथ्वी में द्यु लोक है

महामेरु, उसके परवर्त्ती जो अनन्तासन हैं, वे ही 'दिव: पर:' हैं। परन्तु आकाश में द्यु लोक सूर्यमण्डल है, उसके परवर्ती वैकुण्ठ है—'दिव: पर:।' इस प्रकार एक ही 'दिव: पर:' को दृष्टिकोण के भेद के अनुसार तीन नामों से अङ्कित किया गया है। परमपद एक ही है, परन्तु लोकत्रय के अन्तर्गत प्रतिलोक के द्युलोक से वह दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए उसे 'दिव: पर:' कहा गया है। ये तीनों नाम अलग-अलग हैं।

ऋग्वेद में भी उसको परव्योम या परमव्योम कहा गया है, यथा—'**ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्।**' इस परव्योम के तीन चरण हैं, जिनका वर्णन *महानारायणोपनिषद्* में है।

पहले जो 'दिव: पर:' के प्रसङ्ग में श्वेतद्वीपादि तीन नामों का उल्लेख मिलता है, उनके साथ इन तीन विभागों का कोई विशेष सम्बन्ध है, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

ब्रह्म की नित्य-विभूति त्रिपाद है और लीला-विभूति एकपाद है, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डसमन्वित प्रकृति इस एकपाद-विभूति के अन्तर्गत है। बीच में जो व्यवधान है, उसका नाम विरजा है। यह कारण सलिलात्मक है। जीव का कारणदेह इसी स्थान में विगलित होता है। सूर्य-मण्डल का भेद किये बिना विरजा की प्राप्ति नहीं होती। सूर्यमण्डल में लिङ्ग-देह निवृत्त हो जाता है। उत्क्रमणकाल में ब्रह्म-रन्ध्र का भेद करने के बाद स्थूल देह का त्याग किया जाता है। सुषुम्णा-रश्मि से चलते-चलते सूर्यमण्डल में प्रवेश होता है। उसके बाद विरजा में अवगाहन होता है। उसके प्रभाव से कारण-सत्ता का लय हो जाता है। वहाँ से व्युत्थान-लाभ करने के बाद विशुद्ध देह की प्राप्ति होती है, जिसके साथ वैकुण्ठ में प्रवेश होता है। यह शुद्ध देह पञ्च-ब्रह्ममय या पञ्च-उपनिषन्मय दोनों समझना चाहिए। यह अप्राकृत विशुद्ध सत्त्वमय दिव्यदेह है।

यह ब्रह्माण्ड चतुर्दश भुवनात्मक है। इसके बाहर दशगुण व्यवधान में स्थित विचित्र आवरण है। सबसे बाहर परमव्योम माना जाता है। इसका स्वरूप कैसा है, वह ब्रह्मादिकों के भी वाक् और मन का अगोचर है। वैकुण्ठ ही दिव्यलोक है। समग्र कार्य-कारण से यह अतीत है।

आचार्य वेदान्तदेशिक का मत है कि विशुद्ध सत्त्व या परमव्योम ही परम पद के नाम से अध्यात्मशास्त्र में प्रसिद्ध है। उपनिषद् में '**आदित्यवर्ण तमस: परस्तात्**' कहकर सन्दर्भ में इसी का ही निर्देश किया गया है। यह पद है अर्थात् स्थान-विशेष है, स्वरूप से भिन्न है। यह सर्वदा दृश्यमान है और नित्य-दर्शन करने वाले बहुसंख्यक सूरियों से विशिष्ट है। यह किसी प्रदेश में अनन्त और किसी में अवच्छिन्न भी है। यह स्वयंप्रकाश होने पर भी, अचेतन है। निर्विशयक ज्ञान तथा अकर्त्ता है, यही शास्त्र-सिद्धान्त है। इस विषय में वर्णना मिलती है—

तत्रानन्दमया भोगा: लोकाश्चानन्दलक्षणा:।
आनन्दं नाम तं लोकं परमानन्दलक्षणम्।।
तयोर्नौ परमव्योम निर्द्वन्द्वसुखमुत्तमम्।
षाड्गुण्यप्रसरो नित्यस्वाच्छन्द्यात् देशतां गत:।।

श्रीभगवान् का दिव्य मङ्गल-देह जैसे ज्ञानात्मक है, यह भी ठीक उसी प्रकार ज्ञानात्मक है। परन्तु यह धर्मभूत ज्ञान के अनुरूप पराक् या बहिर्मुख है, प्रत्यगात्मक नहीं है। जिस वस्तु का प्रकाश दूसरे के निकट होता है, वह स्वभावत: ही प्राक् भावापन्न हुआ करता है। सुषुप्तिकाल में जैसे धर्मभूत ज्ञान का प्रकाश नहीं रहता, उसी प्रकार बद्धावस्था में शुद्ध सत्त्व का भी प्रकाश नहीं रहता। परन्तु बन्धनावस्था में इसी की सिद्धि ज्ञान के विषय रूप में होती है। मुक्त पुरुषों के वैभव का उत्कर्ष सर्ववादियों ने स्वीकार किया है, परन्तु शुद्ध सत्त्व में उसकी अपेक्षा नहीं रहती। आत्मा जैसा ज्ञान का विषय होने पर भी स्वप्रकाश है, यह भी वैसा ही समझना चाहिये।

किसी-किसी का मत यह भी है कि शुद्ध सत्त्व निरतिशय दीप्तिमान् होने से स्वयं प्रकाश कहा जाता है। यह ज्ञान का आवरण करने वाला नहीं है, इसलिए इसे भी ज्ञान कहा जाता है। यह अत्यन्त अनुकूल रूप-रस-गन्धादिकों से विशिष्ट है, इसीलिए आनन्दादि पदों से भी व्यपदेश-योग्य है। यह पञ्चोपनिषत्-प्रतिपाद्य पञ्च भूतेन्द्रियमय है और नित्यमुक्त पुरुष तथा नित्यसिद्ध परमेश्वर की इच्छा के अनुरूप शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा विषय-रूप में अवस्थित है।

किसी का यह भी मत है—जिस प्रकार त्रिगुण में २४ तत्त्व होते हैं, उसी प्रकार विशुद्ध सत्त्व में भी २४ तत्त्व ही होते हैं। परन्तु इन तत्त्वों का प्रकृति-विकृतिभाव नहीं है। इसीलिए श्रुति में लिखा है—दिव्य-मंगल-विग्रहादि नित्य हैं। दिव्य-विभूति में शरीरादि का संस्थान प्राय: प्राकृत के अनुरूप दिखाई पड़ता है। कोई-कोई विषय ऐसे भी हैं, जो परिणामहीन और नित्य हैं; जैसे—दिव्य पुरुषों का भूषण, आयुध, आसन, परिवार, आयतन, उद्यान-वाटिका, क्रीडा, पर्वत आदि। किसी-किसी विषय का परिणाम भी होता है, जैसे वृक्षों में पल्लव कुसुमादि का परिणाम होता है, तथा विग्रहों में विभवादि परिणाम होता है। नदियों में फेन तरङ्गादि परिणाम होता है, तथा विग्रहों में विभवादि परिणाम होता है। ये सब परिणाम अनित्य हैं, परन्तु अनित्य होने पर भी यह परिणाम न काल से उद्भूत है और न कर्मों के अधीन ही है। इन परिणामों का मूल कारण है—श्रीभगवान् का संकल्प।

नित्य-जीव तथा ईश्वर का शरीर—नित्य तथा अनित्य दोनों ही हो सकता है। नित्य इच्छा से जिस शरीर का परिग्रह होता है, वह नित्य है और जिसका परिग्रह अनित्य इच्छा होता है, वह है अनित्य। परन्तु मुक्त पुरुषों का शरीर ऐसा नहीं होता। यह सामान्यत: अनित्य ही होता है। मुक्तगण कदाचित् अशरीर भी रहते हैं और कदाचित् शरीर का ग्रहण भी करते हैं। नित्य धाम में इन्द्रिय-मात्र ही नित्य है; क्योंकि वे आकाशादि के समान उपादान-निरपेक्ष हैं। इन इन्द्रियों में नित्य-जीव तथा ईश्वर से नित्य-परिगृहीत इन्द्रियाँ भी अन्तर्गत हैं, परन्तु मुक्त पुरुषों का इन्द्रिय-परिग्रह शरीर-ग्रहणवत् है। प्रश्न हो सकता है कि नित्य अथवा मुक्त पुरुष कभी इन्द्रियादि ग्रहण क्यों करते हैं? इसका उत्तर यह हो सकता है कि श्रीभगवान् का अभिमत भगवत्-कैङ्कर्य-रूप भोग के लिए यह होता है, अर्थात् भगवान् का अपने भोग के लिए, भगवदाश्रित नित्य-मुक्त पुरुषों को आनन्द देने के लिए, और मुमुक्षु जन की उपासना से सहायता के लिए, होता है। परन्तु इस प्रकार के शरीरादि का परिग्रह श्रीभगवान् के संकल्प-मात्र से सम्पन्न होता है। भक्त पराशर-पाद का मत है कि

परमेश्वर का भी मन है। श्रुति में भी है—(१) मनसा एतान् पश्यन् रमते; (२) मनोऽस्य दिव्यं चक्षुः, (३) सोऽन्यं कामं मनसा ध्यायीत; (४) मनसैव जगत्सृष्टं आदि। पाणि-प्रभृति इन्द्रिय भी हैं। भूषणायुधादि विषय भी हैं। पहले ही कहा गया है—नित्य तथा मुक्त पुरुषों का परिग्रह कभी केवलमात्र परमपुरुष के संकल्प से, कभी, परम संकल्प के अनुसारी आत्मसंकल्प से होता है।

वेदान्तदेशिक आचार्य ने *परमपद-सोपान* नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। उसमें परमपद-मार्ग में ९ अवस्थाओं का विवरण दिया हुआ है। इन अवस्थाओं में ५ उपायात्मक हैं और ४ आरोहात्मक। उपायात्मक ५ अवस्थाएँ हैं—१. विवेक—यह भगवान् को अङ्गी समझकर अपने को अङ्ग समझना है। २. निर्वेद—यह कर्म तथा पाप से उद्भूत अनुताप है। ३. विरक्ति—ऐहिक तथा पारत्रिक भोग से वैराग्य है। ४. भीतिभाव—इसका तात्पर्य है—संसार का भय। ५. उपाय-भक्ति तथा प्रपत्ति से भगवान् और श्रीगुरु की कृपा से परलोक में अहंकार का नाश है। आरोहात्मक ४ हैं—१. उत्क्रमण, २. अर्चिरादि, ३. दिव्यदेश का प्रभाव और ४. प्राप्ति।

मुक्ति का उद्देश्य अज्ञान, पाप तथा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति तो है ही, परन्तु परमपद का पुनर्लाभ भी है। आत्मा मुक्त होकर ब्रह्म में लीन नहीं होता, किन्तु ब्रह्मरूप, ब्रह्मरस तथा ब्रह्मगन्ध होता है। स्मरण रखना चाहिए कि परमपद में काल नहीं होता। *महाभारत,* शान्तिपर्व में है—

कालं स पचते तत्र न कालः तत्र वै प्रभुः।

परमपद अप्राकृत परमाकाश-रूप आनन्द-लोक है। यह जड़ नहीं है, परन्तु ज्ञान के सदृश स्वप्रकाश है और आत्मा के भोग के लिए निर्दिष्ट है। वहाँ देश तथा काल-रूपान्तर प्राप्त होता है। यह परम स्थान कोटि-कोटि सूर्य से भी उग्र है। इसीलिए उपनिषद् में इसे 'आदित्यवर्ण' कहा गया है *कौषीतकी उपनिषद्* तथा रामानुज कृत *वैकुण्ठ-गद्य* में इसका आंशिक वर्णन है। पाश्चात्यदेश में प्लेटो तथा प्लतिनस ने भी इसके वर्णन के लिए प्रयत्न किये थे, परन्तु ठीक वर्णन नहीं हुआ। श्रीमद्भागवत में भी कहीं-कहीं इसका विवरण मिलता है। श्रीभगवान् के रूप-वर्णन प्रसङ्ग में प्रतीत होता है कि आचार्यों के मत से श्रीविग्रह का श्रीवत्सचिह्न वस्तुतः प्राकृत जगत् अर्थात् का सूचक है, तथा उनका कौस्तुभ अप्राकृतजगत् अथवा आत्मा का द्योतक है। परम पद में देह धारण करना बन्धन-रूप नहीं होता। वह आनन्दमय लीला-मात्र है। नित्य सूरिवर्ग परमपद में नित्य वर्तमान महाकाल का अनुभव करते हैं।

पहले कहा गया है—विशुद्ध सत्त्व परमपद का ही नामान्तर है। *तैत्तिरीय ब्राह्मण* में **योऽस्य अध्यक्षः परमे व्योमन्—**सन्दर्भ में इसका इङ्गित मिलता है। इस परव्योम के सम्बन्ध में पहले भी संक्षेप में कुछ कहा गया है। *रामायण* में—**तच्चाकाशं सनातनम्।** इस परमाकाश का ही द्योतक मालूम पड़ता है। *महाभारत* में **दिव्यं स्थानमजं चाप्रमेयं** भी परम-पद का ही नामान्तर है। यह नित्य-विभूति ऊपर की तरफ अनन्त है, परन्तु

निम्न प्रदेश में परिच्छिन्न है। अचेतन होने पर भी यह स्वयं प्रकाश है, और आनन्ददायक होने के कारण इसे भी आनन्द कहा जाता है। प्रसिद्ध है कि इसमें अप्राकृत पञ्चशक्ति का मिश्रण हमेशा हुआ करता है। इसीलिए इसे कहीं-कहीं पञ्चशक्तिमय भी कहा जाता है। किसी-किसी आचार्य के मत में यह प्रकृति का ही एक देश है। परन्तु यह ठीक नहीं है। हाँ, यह सत्य है कि इस नित्यविभूति में भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द सब कुछ है। परन्तु वे अप्राकृत है। इसको चेतना तो नहीं कहा जाता, परन्तु ठीक-ठीक जड़ भी नहीं कहा जाता। इसी उद्देश्य से किसी-किसी ग्रन्थ में इसे ज्ञानात्मक कहा गया है। यह नित्य-विभूति चार प्रकार की है—(क) आमोद, (ख) प्रमोद, (ग) सम्मोद, और (घ) वैकुण्ठ। इसके बाद अनन्त है। इस विभूति में द्वादश आवरणों के साथ गोपुर, प्राकार आदि से आवृत वैकुण्ठ नामक नगर विद्यमान है। इसमें आनन्ददायक दिव्य आलय है, जिसके भीतर रत्नमय सहस्र स्तम्भों से विरचित महामणिमण्डप नामक सभा है। इसमें सहस्र-फण-मणि तेज से विराजमान अनन्त भगवान् विराज रहे हैं। इस अनन्त के धर्मादिमय दिव्य सिंहासन हैं। उसके ऊपर हस्त में चामर लेकर विमलादि अष्ट सखियाँ अष्ट-दल-कमल की सेवा कर रही हैं। उसके ऊपर प्रकृष्ट विज्ञानमूलक शेष अवस्थित हैं। उसके भी ऊपर वाक् तथा मन के भी अगोचर परमाद्भुत वस्तु है।

श्रीभगवान् के अस्त्र-भूषणादि सभी दिव्य हैं, यह पहले भी कहा गया है, तथा कौस्तुभ-मणि पुरुष तथा श्रीवत्स प्रकृति है, यह भी कहा गया है। बुद्धि गदा है। सात्त्विक अहंकार है—शङ्ख। तामस अहङ्कार—शार्ङ्ग है। ज्ञान खड्ग है। अज्ञान उसका आवरण-कोश है। मन चक्र है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय का स्वरूप बाण हैं। स्थूल सूक्ष्मभूत वनमाला है।

कौषीतकी उपनिषद् में पर्यङ्क-विद्या में है—**सह७स्थूणे विभाते दृढ उग्रे यत्र देवानामपि देव आस्ते।** *शाट्यायनी* शाखा में प्रसिद्ध है—**क्षयन्तमस्य रजसः पराके।** यह सब विवरण षडर्थ संक्षेप में मिलता है। *यादवप्रकाश* का मत है कि—श्रुतिवाक्य में 'अक्षरे परमे व्योमन्' इस स्थल में अव्यक्त और तम इन दोनों के बीच ईश्वर तथा मुक्त पुरुषों का भोगस्थान निर्दिष्ट है। यह त्रिगुण के परिणामस्वरूप है। यही परम पद है। परन्तु इस मत को वेदान्तदेशिक आचार्य ने *तत्त्वमुक्ताकलाप* की टीका सर्वार्थसिद्धि में स्वीकार नहीं किया।

नाथ-सम्प्रदाय में भी परम पद की चर्चा आती है। गोरक्षनाथ ने पञ्च पिण्ड का सिद्धान्त स्वीकार किया है। तदनुसार नीचे का प्रकृति-पिण्ड नर-नारी का रूप है। ऊपर का महासाकार पिण्ड अष्टमूर्त्तिमय शिव का स्वरूप है। महासाकार पिण्ड से ऊपर आद्यपिण्ड है। यह पिण्ड परमानन्द से सोऽहंभाव-पर्यन्त फैला हुआ है। इसके ऊपर है अनाद्यपिण्ड, जिसमें पाँच अवस्थाएँ हैं। इनमें सबसे ऊपर है अपरम्पर और सबसे नीचे परमात्मा है। अनाद्यपिण्ड के ऊर्ध्व में परपिण्ड-रूपी शिव पञ्चशक्तिमय है। परन्तु यह अवस्था पञ्चशक्ति-पिण्ड आकार में न रहकर विभक्त रहती है। इस अवस्था का नाम है 'अनामा'। इसमें अनाद्यपिण्ड के द्वितीय अवयव को परमपद नाम दिया गया है। यह अपरम्पर के नीचे और शून्य के ऊर्ध्व में है। शून्य है—निरञ्जन के ऊर्ध्व में, और निरञ्जन है—परमात्मा के ऊर्ध्व में। *सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति* में इसका विस्तार दिया गया है।

सन्दर्भ

१. मनोवहा नाड़ी की अनेकों प्रकार की शाखा-प्रशाखाओं के द्वारा यह जाल बना हुआ है। मन की एक-एक प्रकार की वृत्ति या भाव एक-एक प्रकार की नाड़ी के मार्ग में घूमने-फिरने लगता है। ये सभी मार्ग सामान्यतया मनोवहा नाड़ी होने पर भी, इनमें परस्पर वर्णादिगत अनेकों प्रकार के अवान्तर-भेद हैं। रूपवाहिनी, शब्द-वाहिनी नाड़ियों के साथ मनोवहा नाड़ी का संयोग है। पञ्चभूत के सार-तेज के द्वारा ही मन का प्रकाश होता है। मन के वृत्तिभेद में भी पञ्चभूतों का सन्निवेशमूलक तारतम्य है—जैसे क्रोध में तेज और काम में जल इत्यादि का प्राधान्य है (यद्यपि प्रत्येक वृत्ति में ही पञ्चभूतों का अंश है)। पूर्व के अनेक जन्मों की वासना-रूपी सूक्ष्म वायु के कण या रेणुओं के द्वारा यह जाल भरा हुआ है। यही सब मन को चञ्चल करते हैं। हृदय के बाहर इस प्रकार एक बड़ा भारी जाल है। इस प्राणमय नाड़ी-जाल के द्वारा सारा शरीर व्याप्त है। यह वायुमण्डल मन का संचार-क्षेत्र है। इसी के अन्दर यथास्थान लोक-लोकान्तर भासित होते हैं। चञ्चल मन इसमें सर्वत्र सञ्चरण करता है। इस व्यष्टि-देह की ही भाँति ब्रह्माण्ड भी सूर्य-मण्डल के बाहर इसी प्रकार का जाल सारे विश्व में व्याप्त है। एक-एक नाड़ी एक-एक रश्मि है। इन रश्मियों के मार्ग से ही प्राण या मन सञ्चरण किया करते हैं, देह के भीतर के लोगों में भी करते हैं और बाहर के लोकों में भी।

२. कुम्भक के प्रभाव से समान-वायु उत्तेजित होकर सब नाड़ियों को एक नाड़ी में परिणत (नाड़ी सामरस्य) और समस्त वायु-समूह को प्राण की धारा में पर्यवसित कर देती है, यही संयोजन की क्रिया है।

३. बिन्दु-भेद होते ही एक प्रकार से भेदमय संसार का उल्लङ्घन हो जाता है, तब साधक स्थूल और सूक्ष्म देह से मुक्त हो जाता है। स्थूल देह प्रसिद्ध षाट्कौशिक-देह है। सूक्ष्मदेह दो प्रकार का है—एक पुर्यष्टक-स्वरूप, पाँच तन्मात्राएँ और मन, बुद्धि तथा अहङ्कार—इन आठ अवयवों वाली (इसी को सांख्य-दर्शन में सतरह या अठारह अवयव-युक्त लिङ्गशरीर कहा गया है)। दूसरी, शून्य-देह के नाम से प्रसिद्ध है, यह निरवयव है। जाग्रत्-काल में प्राण स्थूलदेह में, स्वप्न-काल में पुर्यष्टक में सुषुप्ति में शून्य-देह में रहते हैं। बिन्दु के अतिक्रम कर जाने पर जीव इन तीन देहों से और जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं से अतीत हो जाता है। बिन्दु ईश्वर-वाचक है, स्वयं ईश्वर है। इसके ऊपर ललाट-देश में **अर्धचन्द्र** और उसके कुछ ऊपर **निरोधिका** है। यह निरोधिका-कला साधारण योगी की ऊर्ध्व गति में प्रतिबन्धक है। एक बिन्दु-ज्योति ही अर्धचन्द्र और निरोधिका-पर्यन्त व्याप्त है। बिन्दु में ज्ञेय का प्राधान्य रहता है, यद्यपि ज्ञेय अविभक्त एकाकार ज्योति-मात्र है। अर्धचन्द्र में ज्ञेय-प्राधान्य बहुत कम है। निरोधिका में ज्ञेय-प्राधान्य बिलकुल नहीं रहता। बिन्दु आदि तीनों कलाओं में प्रत्येक में पाँच अवान्तर कलाएँ हैं। इसीसे उस ज्योति में पन्द्रह कलाएँ भासती हैं। यह बिन्दु-आवरण ही प्रथम आवरण है। इस आवरण में तीन सूक्ष्म स्तर हैं। इसके बाद मन्त्रस्रोत ब्रह्मरन्ध्र या शक्ति-स्थान की ओर प्रवाहित होकर पहले **नाद** और **नादान्त** भूमि में पहुँचता है।

ललाट से मूर्ध-पर्यन्त यह भूमि-व्याप्त है। बिन्दु-तत्त्व में जिस ज्ञेय-प्राधान्य का परिचय पाया जाता है, वह निरोधिका में शान्त हो जाता है; इसलिए नाद-भूमि में समस्त वाचकों या मन्त्रों की अभिन्नता का अनुभव प्रधानतया हुआ करता है। बिन्दु में वाच्य और वाचक का भेद लुप्त होने पर भी, विभिन्न वाचकों के पारस्परिक भेद लुप्त नहीं होते। नाद और नादान्त में वे भी लुप्त हो जाते हैं। यहाँ सभी मन्त्रों की अभिन्नता का ज्ञान हो जाता है। इस भूमि के

अधिष्ठाता सदाशिव हैं। इस नादावरण में पाँच, और नादान्त में एक सूक्ष्मस्तर है; नादान्त में जो सूक्ष्म स्तर है, उसके साथ सुषुम्णा नाड़ी का साक्षात् सम्बन्ध है। यहाँ नाद का विश्राम होता है।—इसी को ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं।

यही देह का ऊर्ध्व-छिद्र है। इसका भेद करना अत्यन्त कठिन है। मूर्धा के मध्यदेश में **शक्ति का** स्थान है—यहाँ श्वास-प्रश्वास के अथवा प्राणायाम के मिलने के कारण एक अनिर्वचनीय स्पर्शमय तीव्र आनन्द की अनुभूति होती है। यहाँ केवल सुषुम्णा की क्रिया रहती है, यहाँ सृष्टि-प्रलय का द्वन्द्व नहीं है, केवल सृष्टि भासती है, दिन-रात एकाकार होकर दिन मात्र रह जाता है। हृदय से सूक्ष्म प्राणों का सञ्चरण इस शक्ति-स्थान तक हुआ करता है। इस शक्त्यावरण में पराशक्ति का एक स्तर है, अत्यन्त दुर्भेद्य इस शक्ति-कला को भेद करके योगी ऊर्ध्व प्रवेश-मार्ग में **व्यापिनी** अथवा महाशून्य में प्रवेश करते हैं। वहाँ प्राणों का संचरण नहीं है, सुषुम्णा की क्रिया भी अस्तमित है। नित्य-सर्ग का अन्त है; महादिन भी नहीं है; कलनात्मक काल यहाँ साम्यरूप में स्थित है। महाशून्य ही शक्ति-पर्यन्त नीचे के समस्त विश्व में व्यापक है। स्मरण रखना चाहिए कि यह महाशून्य भी ॐकार की ही एक कला है, इसमें पाँच अवान्तर कलाएँ हैं और उनमें प्रत्येक में एक-एक स्तर हैं, विशेष प्रक्रिया के बिना इस महाशून्य का भेद करना और परागतिप्राप्त करना सम्भव नहीं। इस प्रक्रिया को योगी लोग दिव्य-करण कहते हैं। इससे दिव्यज्ञान का उन्मेष होता है। इस महाशून्य के बाद की अवस्था में **महामाया** का साक्षात्कार होता है। यही प्रणव की अन्तिम कला है। योगी लोग इसी को मनस्वरूप वा इच्छाशक्ति कहा करते हैं। इसके बाद ही निष्कल परमपद है, जहाँ ॐकार परब्रह्म के साथ अभिन्न है।

४. भागांश इस प्रकार हैं—

बिन्दु १/२ मात्रा
अर्धचन्द्र १/४ मात्रा
निरोधिनी १/८ मात्रा
नाद १/१६ मात्रा — जोड़ - १ मात्रा
नादान्त १/३२ मात्रा
शक्ति १/६४ मात्रा
व्यापिनी १/१२८ मात्रा
समना १/१२८ मात्रा

५. द्रष्टव्य— १. त्रिपादस्यामृतं दिवि।
२. विष्णोः पदे परमे मध्य उत्सः।
३. क्षयन्त मस्य रजसः पराके।

यही सब नित्य-विभूति के वैदिक प्रमाण हैं। *श्रीमद्भागवत* (२/९/१०) में भी इसकी चर्चा है।

भारतीय संस्कृति और साधना से साभार।

त्रिपदा गायत्री एवं उसका शक्तिस्वरूप

डॉ. कैलाशचन्द दवे

'न गायत्र्या: परो मन्त्र:' *स्मृतिसमुच्चय* के उपर्युक्त कथनानुसार गायत्री मन्त्र से बढ़कर कोई अन्य मन्त्र नहीं है। वेदाध्ययन के अधिकारी त्रैवर्णिकों में सर्वप्रथम अधिकारी ब्राह्मण के बालक का जब यज्ञोपवीत संस्कार होता है तो उसमें आचार्य (गुरु) गायत्री मन्त्र का उपदेश करता है। गायत्री मन्त्र का उपदेश किस प्रकार करना चाहिए इस उपदेश-क्रम को *पारस्करगृह्यसूत्र* में निम्नलिखित रूप में बतलाया गया है—

'पच्छोऽर्धर्चश: सर्वां च तृतीयेन सहाऽनुवर्तयेत्।'[1] अर्थात् पहले त्रिपदा गायत्री के एक-एक पाद का, इसके बाद दूसरी बार आधी आधी ऋचा-मन्त्र का तथा तीसरी बार समग्र गायत्री मन्त्र का उपदेश करना चाहिए। यह उपदेश-क्रम श्रुति में भी निर्दिष्ट है। यथा—**तां वै पच्छोऽन्वाह। त्रयो वै: प्राणा:। प्राण उदानो व्यान:। तानेवास्मितंस्तद्दधाति। अथार्द्धर्चश:। द्वौ वा इमौ प्राणौ। प्राणोदानावेव। प्राणोदानावेवास्मितंस्तद्दधाति। अथ कृत्स्नाम्। एको वा अयं प्राण: कृत्स्न एव। प्राणमेवास्मितंस्तत्कृत्स्नं दधाति।**[2]

अर्थात् एक-एक पाद का एक-एक कर उपदेश करके गुरु-आचार्य शिष्य में प्राण, उदान एवं व्यान—इन तीनों प्राणों-प्राणवायु का शिष्य में आधान करता है। आधी-आधी ऋचा-मन्त्र का रुककर उपदेश देता हुआ गुरु प्राण एवं उदान—इन दोनों वायु का शिष्य में आधान करता है। वायु की ऊर्ध्व एवं अध:-नीचे की ओर गति के कारण वृत्ति भेद से प्राणवायु के दो प्रकार होते हैं। तीसरी आवृत्ति में गुरु समस्त-समग्र गायत्री का उपदेश कर समष्टिरूप मुख्य प्राण का शिष्य में संचार करता है। वस्तुत: गायत्री-शब्द का श्रुति के द्वारा समाम्नात निर्वचन भी इस प्राण-वायु से सम्बन्धित है। यथा—

> **सा हैषा गयांस्तत्रे। प्राणा वै गया:। तत् प्राणान् तत्रे। तद्य यत् गयान् तत्रे। तस्मात् गायत्री नाम। स यामेवामूमन्वाह। एषैव सा। स यस्मा अन्वाह। तस्य प्राणान् त्रायते।**[3]

अर्थात् जिस प्राण-रूप गायत्री में सभी देवता एकत्व रूप से तथा सभी-चारों वेद, उन वेदों में प्रतिपादित कर्म एवं उन तत्तत् कर्मों के फल समष्टि रूप से स्थित हैं, वही गायत्री प्राण-रूप में परिवर्तित होकर जगत् आत्मा (जगदात्मा) वही गायत्री प्राणों की एवं वागादि वृत्तियों की रक्षा करती है। अतएव 'गयांस्तत्रे' यहाँ 'गयत्राणात् गायत्री' गयान् अर्थात् प्राण, उदान, व्यान—इन प्राण-वृत्तियों की रक्षा-त्राण-इन अक्षरों के साम्य से गायत्री का नाम हुआ। अपान एवं समान दोनों प्राण-वृत्तियों का उपर्युक्त प्राण, उदान, व्यान में ही अन्तर्भाव है।

यद्यपि प्राणधारी जीव में ये उपर्युक्त सभी प्राण-वृत्तियाँ न्यूनाधिक रूप से रहती हैं किन्तु त्रैवर्णिकों में ब्राह्मण का धार्मिक एवं सामाजिक क्रिया-कलाप में सबसे बड़ा उत्तरदायित्व रहता है। इस उत्तरदायित्व को मनु ने भी स्पष्ट कहा है—

एतद्देश प्रसूतस्य सकादाशदग्र जन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

सामाजिक व्यक्ति में यदि वृत्त या चरित्र नहीं है तो वह सब प्रकार से हीन एवं समाज में गिरा हुआ होता है। नीतिशास्त्र में ऐसा ही कहा गया है—**वृत्ततस्तु हतो हतः।**

ब्राह्मण-बालक के यज्ञोपवीत संस्कार से उसका दूसरा जन्म होता है। अतएव उसको द्विज या द्विजन्मा कहा जाता है। गायत्री मन्त्र का विधिवत् उपदेश करके गुरु-आचार्य उस शिष्य के प्राणों को महाप्राण तथा शक्ति-सम्पन्न कर सुसंस्कृत बालक के शरीर में दिव्य ऊर्जा का संचार करता है। गृह्यसूत्रादि ग्रन्थों में गर्भाधानादि संस्कारों से विधिवत् बालक का संस्कार करने से वह समाज में सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। बालक का जब जात संस्कार होता है, उस समय भी संस्कार कराने वाला आचार्य उत्पन्न बालक में प्राणादि वृत्तियों को सशक्त करता है। यथा—**प्रतिदिशं पञ्च ब्राह्मणानवस्थाप्य ब्रूयात्-इमं अनुप्राणितेति।**[4]

अर्थात् हे ब्राह्मणों इस उत्पन्न कुमार को लक्ष्य कर आप सब इसको प्राणादि पाँच वायु से युक्त कर दीर्घायु करें। संक्षिप्त प्रकार के अनुसार पूर्वादि चारों दिशाओं में तथा एक ब्राह्मण मध्य में बैठकर कुमार को आयुष्मान् होने के लिए प्राणादि पाँच वायु-वृत्तियों से समन्त्रक आशीर्वाद देते हैं—

१. हे कुमार! त्वं प्राण हृदि सुस्थः प्राणो भव।
२. हे कुमार! सर्वाङ्गेषु व्यानो भव।
३. हे कुमार! त्वं गुदे सुस्थोऽपानो भव।
४. हे कुमार! त्वं कण्ठे सुस्थ उदानो भव।
५. हे कुमार! त्वं नाभौ सुस्थः समानो भव।[5]

इस संस्कार के अन्त में **अश्मा भव परशुर्भव.**[6] इत्यादि मन्त्र-पाठपूर्वक आचार्य कुमार का अभिमर्शन कर उसको पाषाण की तरह दृढ़ एवं परशु (फरसे) की तरह तीक्ष्ण बुद्धि वाला करता है। इस प्रकार सभी षोडश संस्कारों का मुख्य उद्देश्य कुमार को सशक्त, चरित्रवान् एवं मेधावी करना होता है।

त्रिपदा गायत्री मन्त्र के छन्द एवं उसके पाद का विवेचन भी आवश्यक है। छन्द शब्द से तात्पर्य मन्त्र या श्लोक में अक्षर संख्या है। पिङ्गल छन्दःसूत्र के अनुसार **अष्टौ वसवः**[7] **इस सूत्र में 'वसु'** शब्द गुरु एवं लघुसंज्ञक आठ अक्षरों का बोधक है। सामान्य रूप से वसु, बाण, रस, ऋषि इत्यादि प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द संख्या का निर्देश करते हैं। जैसे—'वसु' शब्द ध्रुवादि प्रभासान्त आठ वसुओं का वाचक है। इसी प्रकार 'बाण' कामदेव के **उन्मादन** आदि पाँच बाणों का, 'रस' षड्रस—छः रस, एवं 'ऋषि' सप्तर्षियों—सात ऋषियों का वाचक है।

गायत्री मन्त्र मे तीनों पादों में आठ आठ अक्षर हैं। तीनों पादों की समग्र संख्या चौबीस (२४) होती है। इसीलिए गायत्री—'चतुर्विंशत्यक्षरा' अर्थात् २४ अक्षरों वाली कही जाती है। इन २४ अक्षरों में त् म् इन व्यञ्जन वर्णों की गणना नहीं होती है। किसी भी मन्त्र में प्रतिपदोक्त प्रमाण को छोड़कर ॐ (प्रणव) की भी गणना नहीं होती। उदाहरण की दृष्टि से नवार्ण मन्त्र का जप ॐ प्रणव के साथ करते हैं। यदि नौ अक्षर वाले नव+अर्ण=नर्वाण में प्रणव की गणना करेंगे तो नवार्ण-नौ अक्षर न होकर दशार्ण-दस अक्षर होंगे। नवार्ण मन्त्र—'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे।' इस नवार्ण मन्त्र में नौ अक्षर हैं। इसी प्रकार गायत्री मन्त्र में व्यञ्जन वर्ण को छोड़ कर गिनती करने पर २३ अक्षर ही होते हैं। गायत्री के २४वें अक्षर की पूर्ति करने के लिए पिङ्गल छन्द:सूत्र में 'पाद:'[8] सूत्र के अधिकार में **इयादि पूरण:**[9] अर्थात् 'इय्' आदि शब्द से 'उव्' 'पूर्वसवर्ण' का भी ग्रहण होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ गायत्री आदि छन्दों के किसी पाद में यदि अक्षर संख्या कम हो तो उसे न्यून अक्षर की पूर्ति इय्, उव्-इ, उ-आदि अक्षरों से करनी चाहिए। जैसे—**'तत्सवितुर्वरेणियम्'**[10] **'दिवं गच्छ (स्व:) सुव: पत'**[11]। यहाँ आर्षी गायत्री के प्रथम पाद—**'तत्सर्वितुवेरण्यम्'** में सात ही अक्षर हैं। यहाँ 'ण्य' में **'इयादि पूरण:'** से इ अक्षर से 'णिय' दो स्वर वर्ण होने से पाद में आठ अक्षर हो जाते हैं। इस ऊह के सन्दर्भ में शौनक ने तथा सर्वानुक्रमणिकाकार कात्यायन ने स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा आह शौनक:—**व्यूहेदेकाक्षरी भावान् पादेषूनेषु सम्पदि (सम्पदै:) क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् व्ययेयात्सदृशै: पदै:।**[12] अर्थात् जहाँ क्षैप्र-यण्-सन्धि के संयोग से यकार एवं वकार (य, व) वर्ण हो जाते हैं। यण् ही क्षिप्र (शीघ्र) होने से क्षैप्र कहा गया है। जैसे—**दध्यत्र (दधि+अत्र)** इत्यादि स्थलों में सन्धि एकमात्र को अविलम्ब अर्धमात्रा में कर देती है। पाणिनीय सूत्र **'एक: पूर्वपरयो:'**[13] इस सूत्र के अधिकार में गुण, रपर, वृद्धि इत्यादि सन्धियाँ होती हैं। उक्त सूत्र के अधिकार में यणादि सन्धि के द्वारा दो अक्षरों की सन्धि को ही एकाक्षरी भाव कहा गया है। **'व्यूहेदेकाक्षरीभावान्'** से यण् संयोग, सवर्ण-दीर्घ, गुण एवं वृद्धि वाले स्थल में भी व्यूह के द्वारा पादपूर्ति के अक्षर को बढ़ाया जाता है। यथा—**'पर्योज उद्भृतम्'**[14] **'होता वरेण्य:'**[15] दोनों मन्त्रांश में यकार-य का **परियोज:, वरेणिय:** व्यूहन होता है। **'त्वमिन्द्र वज्रिन्'**[16] में रकार-र का व्यूहन कर वजरिन् **'अद्याद्य'**[17] में अद्य अद्य सवर्ण का व्यूहन होता है।

गायत्री मन्त्र का जब विद्वान् आचार्य शिष्य को उपदेश करता है तो उसी समय **'पाठकाले वरेण्यं स्यात् जपकाले वरेणियम्।'** अर्थात् जब वेदपाठ या पारायणादि करने में गायत्री मन्त्र आवे तो **वरेण्यम्** ही पाठ करना चाहिए। किन्तु संध्यावन्दन में गायत्री जप या अन्यत्र पुरश्चरणादि में जप करना हो तो वहाँ **वरेणियम्** पद का ही उच्चारण करने से चतुर्विंशति (२४) अक्षर वाली त्रिपदा गायत्री होगी। वही गायत्री-जप द्विज को जीवन में प्राणों की रक्षा कर अन्त में नरकादि पतन से भी उसकी रक्षा करता है।

सर्वप्रथम गायत्री की वैदिक निर्वचन प्रक्रिया में प्राण, उदान एवं व्यान—इन वायु-वृत्तियों वाले प्राणों को **'गया वै प्राणा:'** अर्थात् प्राण ही 'गया:' के नाम से अभिहित हैं। इन गया वाचक प्राण, उदान एवं व्यान, इन तीनों नामों के अक्षरों का व्यूह-अक्षरों का विश्लेषण,[18] विच्छेद या पृथक्करण करने पर आठ अक्षर होते हैं। त्रिपदा गायत्री प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पाद की अक्षर संख्या भी आठ है।

इस प्रकार गायत्री के त्रयी लक्षण पद के सामञ्जस्य से भी गायत्री का प्राणों के साथ एकत्व है।

गायत्री मन्त्र के देवता सविता (सूर्य) हैं। अदिति (देवमाता) से उत्पन्न होने से इनको आदित्य कहा जाता है। सविता देवता संसार के सभी प्राणियों के प्रेरक हैं। श्रौतकर्म में प्राय: सभी कर्म सविता की आज्ञा से ही होते हैं। *शुक्लयजुर्वेद* की माध्यन्दिनीय शाखा में **देवस्य त्त्वा सवितु: प्रसवे.**[19] अर्थात् सविता देवता की प्रेरणा या उनकी अनुज्ञा होने पर मैं यह कर्म करता हूँ। उक्त मन्त्र का कई बार पाठ समाम्नात है।

सविता, सूर्य या आदित्य से गायत्री के एकत्व को गायत्री के उपस्थान मन्त्र में स्पष्ट किया गया है। यथा—**तस्या उपस्थानम्—**

> **ॐ गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्य पद्यसि नहि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परो रजसे सावदोम्।**[20]

उपर्युक्त उपस्थान मन्त्र में प्रथम पङ्क्ति में **'त्रिपदी'** पद तक त्रिपदा गायत्री के स्वरूप का विवेचन किया जा चुका है। शब्द लक्षणात्मिका इस त्रिपदा गायत्री के तुरीय-चतुर्थ-पद का ही मुख्य रूप से उपस्थान है। उपस्थान मन्त्र के विनियोग से यह बात स्पष्ट होती है। उपस्थान-मन्त्र विनियोग। यथा—

> **तुरीयपदस्येति विमलऋषि: परमात्मा देवता गायत्री छन्द:, गायत्र्युपस्थाने विनियोग:।**

इस तुरीय (दृष्टिगत) पद को श्रुति ही स्वयं स्पष्ट करती है। यथा—**'अथास्याऽ एतदेव तुरीयं पदं परो रजा: य एष तपति। यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयम्। दर्शतं पदमिति। ददृश इव ह्येष:। परोरजा इति। सर्वमुह्येष रज उपर्युपरि तपति। एवं हैव श्रिया यशसा तपति। योऽस्या एतदेवं पदं वेद।'**[21]

अर्थात् इस त्रिपदा शब्दलक्षणात्मिका गायत्री का यही तुरीय-चतुर्थ पद है, जो आदित्यमण्डलान्तर्गत पुरुष है। मण्डलान्तर्गत आदित्यरूप पुरुष सामने ही दृष्टिगत है, जो **'परो रजा:'** अर्थात् भूरादि सभी लोकों के ऊपर सत्यलोक में स्थित होकर तपता है। जो चतुर्थ पद है, वही तुरीय है। **'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**[22] अर्थात् यह मण्डलवर्ती सूर्य इस चेतन एवं जड़ रूप समस्त जगत् का आत्मारूप है।

जो आँखों के सामने है अर्थात् प्रत्यक्ष है, वही सत्य है। इसी को श्रुति स्पष्ट करती है। यथा—

> **सैषा गायत्री एतस्मिन् तुरीये दर्शते पदे रजो रजसि प्रतिष्ठिता। तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठिता। चक्षुर्वै सत्यम्। तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमद्राक्षमहमश्रौषमिति। य एव ब्रूयादहमद्राक्षमिति। तस्मा एव श्रद्दध्याम।**[23]

अर्थात् यह त्रिपदा गायत्री उस तुरीय-चतुर्थ जो समस्त लोकों के ऊपर जो कि आदित्य मण्डल के रूप में स्थित है, उसी सत्यलोक में आदित्य पुरुष के साथ तादात्म्य रूप से मण्डल में स्थित सत्य रूप आदित्य पुरुष प्रत्यक्ष है वही सत्य है। यदि इस समय इस बात को लेकर दो व्यक्ति परस्पर विवाद में एक व्यक्ति यह कहे कि मैंने देखा है तथा दूसरा व्यक्ति कहे कि मैंने सुना है तो ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति यह कहता है कि मैं देखा हूँ तो हम उस देखने वाले व्यक्ति पर ही श्रद्धापूर्वक विश्वास करते हैं। जो व्यक्ति यह कहता है कि मैंने

सुना है तो हम उस पर विश्वास नहीं कर सकते क्योंकि सुनी हुई बात का असत्य होना भी सम्भव है। अत: प्रत्यक्ष रूप से जो है, वही सत्य है। उस सत्य में ही गायत्री प्रतिष्ठित है।

तुरीयपद में आश्रित सत्य का आधार बल है। **'सत्यमेव जयते'** यह जो प्रसिद्ध श्रुति है, इसका तात्पर्य है कि सत्य ही अन्त में विजयी होता है। बल के बिना विजय की प्राप्ति सम्भव नहीं। सत्य के साधक या उपासक को आत्मिक बल के बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती। यह आत्मिक बल साधक के प्राणों में स्थित है। इसी बात को निम्नांकित श्रुति स्पष्ट करती है—

> **तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितम्। प्राणो वै बलम्। तत्प्राणे प्रतिष्ठितम्। तस्मादाहु:–बलं सत्यादोजीय इति। एवं उस एषा गायत्री अध्यात्मं प्रतिष्ठिता।**[24]

उक्त श्रुति का निष्कर्ष यह है कि आश्रित की अपेक्षा आश्रय अत्यन्त (ओजीय) बलवान होता है। अत: प्राणों को बलवान एवं सुरक्षित करने के लिए श्रीविद्या के उपासक या दश महाविद्याओं में से किसी भी महाविद्या के साधक एवं उपासक के लिए सर्वप्रथम गायत्री की उपासना नितान्त आवश्यक है। गायत्री की उपासना के बिना साधक को आत्मिक बल प्राप्त होना कथमपि सम्भव नहीं है।

महाव्याहृतियों सहित गायत्री मन्त्र की व्याख्या

'ॐ भूर्भुव: स्व:' इन तीनों व्याहृतियों से प्रजापति ने क्रमश: भूमि, अन्तरिक्ष, दिवम्, द्युलोक की सृष्टि की। इसी प्रकार प्रजापति ने इन व्याहृतियों से अन्य और जो सृष्टि की, उसको श्रुति स्वयं कहती है। यथा—

> **भूरिति वै प्रजापतिरिमामजनयत। भुव इत्यन्तरिक्षम्, स्वरिति दिवम्। भूरिति वै प्रजापति ब्रह्माजनयत, भुव इति क्षत्रम्, स्वरिति विशम्। भूरिति वै प्रजापतिरात्मानमजनयत, भुव इति प्रजाम्, स्वरिति पशून्। एतावद्वा इदं सर्वम्–यावदात्मा–प्रजा–पशव:।**[25]

अर्थात् भूमि, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक, इन तीनों लोकों की तीन व्याहृतियों के द्वारा सृष्टि करने के बाद प्रजापति ने **भू** व्याहृति से ब्राह्मण जाति (वर्ण) की **भुव:** व्याहृति से क्षत्रिय एवं **स्व:** इस तृतीय व्याहृति से वैश्य जाति की सृष्टि की। तदनन्तर प्रजापति ने भू:, भुव:, स्व:—इन तीनों व्याहृतियों से क्रमश: आत्मा, प्रजा एवं पशु वर्ग की सृष्टि की। जीवात्मा जब तक अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है तभी तक इनके समस्त भोग सम्पादन युक्त इस समग्र जगत् की स्थिति है। आत्म–तत्त्व के बिना इन प्रजा पशु आदि किसी की सत्ता नहीं रहती है।

अन्त में योगियाज्ञवल्क्योक्त कुछ श्लोक हैं—

> **तच्छब्देन तु यच्छब्दो बोधव्य: सततं बुधै:।**
> **उदाहृते तु यच्छब्दे तच्छब्द: स्यादुदाहृत:।।१।।**
> **सविता सर्वभूतानां सर्वभावनान्प्रसूयते।**
> **सवनात्पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते।।२।।**

दीव्यते क्रीडते यस्मात् द्योतते रोचते दिवि।
तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदेवतैः।।३।।
चिन्तयामो वयं भर्गं धियो यो नः प्रचोदयात्।
धर्मार्थकाममोक्षेषु बुद्धिवृत्तीः पुनः पुनः।।४।।
भ्रस्ज पाके भ्रज्ञवेद्धातुर्यस्मात्पाचयते ह्यसौ।
भ्राजते दीप्यते यस्माज्जगच्चान्ते हरत्यपि।।५।।
कालाग्निरूपमास्थाय सप्तार्च्चिः सप्तरश्मिभिः।
भ्राजते यत्स्वरूपेण तस्माद्भर्गः स उच्यते।।६।।
भेति भीषयते लोकान् रेति रञ्जयते प्रजाः।
गेत्यागच्छत्यजस्रं यो भगवान्भर्ग उच्यते।।७।।
वरेण्यं वरणीयं च संसारभयभीरुभिः।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वा मुमुक्षुभिः।।८।।
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रिविधस्य च।
ध्यानेन पुरुषो यस्तु द्रक्ष्यः स सूर्यमण्डले।।९।।

कहा गया है कि सृष्टि में भावों को उत्पन्न करने वाला सविता है। विकारात्मक भाव—

(१) जायते—उत्पन्न होना, (२) अस्ति—है या सत्ता, (३) विपरिणमते—बदलता है, (४) वर्द्धते—बढ़ता है, (५) अपक्षीयते—घटता है, (६) विनश्यति—नष्ट हो जाता है। ये उपर्युक्त छः भाव विकारात्मक कहे गये हैं जो प्रायः समग्र जड़-चेतन (स्थावर-जङ्गम्) जगत् में व्याप्त हैं।[26]

इन उक्त भावों के अतिरिक्त सत्ता, स्वभाव, अभिप्राय एवं भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ आदि संसार के सभी भावों को उत्पन्न करने वाला या प्रेरित करने वाला सविता देव ही है। प्रेरणार्थक **'षू प्रेरणे'** से **सुवति स्वे-स्वे व्यापारे प्राणिनः, इति सविता।** अर्थात् सभी प्राणधारी जीवों को अपने-अपने व्यापार-कर्म में प्रेरित करने वाला **सविता देव** ही होता है। सवन 'अभिषव' अर्थ को कहने वाली **'षूञ् अभिषवे' सुनोतीति सविता।**

सन्-प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन एवं तृतीय सवन—इन तीनों सोम सवनों में सूक्ष्म रूप से हेतु सविता ही है। सब को पावन-पवित्र करने वाला भी सविता है। अतएव—

सविता सर्वभूतानां. ...सविता तेन चोयते।।२।।
दिव्यते क्रीडते. ...सर्वदेवतैः।।३।।

देवः—**दानात्**-दान करने वाला या देने वाला, **दीपनात्—**दीपन करने वाला या कान्ति प्रदान करने वाला**, द्योतनात्—**प्रकाश करने वाला, **द्युस्थानः—**द्युलोक-स्वर्ग में स्थित रहने वाला देव होता है। इस सविता देवता की प्रेरणा से सब सांसारिक क्रीड़ा होती है अर्थात् यही देव क्रीड़न करता है। अतिस्तुति की दृष्टि से सभी देव इसी सविता-आजानदेव-देव की स्तुति करते हैं। इसी कारण यह सविता **देव** है।[27]

चिन्तयामो वयं भर्गं. ...बुद्धिवृत्तीः पुनः पुनः।।४।।

हम सब उस भर्ग-तेज का चिन्तन करते हैं, जो तेजोमय भर्गदेव (सूर्यनारायण) धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों को सम्पन्न करने हेतु हमारी विभिन्न बुद्धिवृत्तियों को बार-बार प्रेरित करता है।

भ्रस्जपाके भवेद्धातुः. ...जगच्चान्ते हरत्यपि।।५।।

'भ्रस्जपाके' पकाने अर्थ वाली भ्रस्ज धातु से निष्पन्न यह भर्ग सबको परिपक्व करता है। दीप्ति अर्थ वाली 'भ्राजृदीप्तौ' धातु से निष्पन्न देदीप्यमान यह भर्ग उपासक को तेजस्वी बनाता है। भर्जन अर्थ को कहने वाली 'भृजी भर्जने' धातु से निष्पन्न होने वाला यह भर्ग अन्त में जगत् का भर्जन-संहार भी करता है। भगवान शंकर का भी एक नाम **भर्ग** है। यही भर्ग हर के रूप में जगत् का हरण—नाश करता है अथवा यह सविता—सूर्यदेव सप्ताश्वरथ पर आरूढ़ होकर अपनी कालाग्नि रूप सात रश्मियों—घातक किरणों से जगत् का हरण—नाश करता है।

कालाग्निरूपमा. ...तस्माद्भर्गः स उच्यते।।६।।

सात घोड़ों वाले रथ पर आरूढ़ होकर यह सविता—सूर्य अपनी सात किरणों द्वारा देदीप्यमान् स्वरूप से जगमगाता है, इसलिए इस सविता—सूर्य के तेज को **भर्ग** कहा जाता है।

भेति भीषयते लोकान्. ...भगवान् भर्ग उच्यते।।७।।

भर्ग शब्द में 'भ' वर्ण से कालाग्नि रूप में आकर लोकों को तपा कर भयभीत कर देता है। 'र' (रेफ) वर्ण अत्यन्त शीतकाल में प्रजा को रंजित कर देता है। 'ग' वर्ण से यह सूर्य निरन्तर गमन—चलता ही रहता है। अतः भगवान् भर्ग के नाम से व्यवहृत होता है। भगवान् भास्कर न कभी उदित होते हैं न अस्त, निरन्तर गमन ही करते रहते हैं। इसीलिए कहा गया है—**नोदेति सविता नित्यं नास्तं याति कदाचन।**

वरेण्यं वरणीयं च. ...भार्गख्यं वा मुमुक्षुभिः।।८।।

संसार के भय से भयभीत मोक्ष की इच्छा वाले लोगों को आदित्य मण्डल में स्थित वरण करने योग्य उस मुख्य—प्रधान भर्ग नामक सविता देव का वरण करना चाहिए।

जन्ममृत्यु विनाशायय. ...सूर्यमण्डले।।९।।

जन्म एवं मृत्यु के विनाश हेतु तथा दैहिक, दैविक और भौतिक—इन तीन प्रकार के दुःखों से मुक्त होने के लिए दुःखी मनुष्य को सूर्य मण्डल में स्थित प्रत्यक्ष दर्शनीय **'पुरुषान्न परं किञ्चित्'** इस श्रुति प्रतिपादित पुरुष की ध्यानपूर्वक आराधना करनी चाहिए।

कात्यायन परिशिष्ट के अनुसार गायत्री मन्त्र के वर्ण देवता भी २४ हैं। वर्णक्रमानुसार निम्नाङ्कित श्लोक है—योगियाज्ञवल्क्यः—

अक्षराणां तु दैवत्यं सम्प्रवक्ष्याम्यतः परम्।
आग्नेयं प्रथमं ज्ञेयं वायव्यञ्च द्वितीयकम्।।
तृतीयं सूर्यदैवत्यं चतुर्थं वैद्युतं तथा।
पञ्चमं यमदैवत्यं वारुण्यं षष्ठमुच्यते।।
बार्हस्पत्यं सप्तमं तु पर्जन्यमष्टमं विदुः।
ऐन्द्रं तु नवमं ज्ञेयं गान्धर्वं दशमं तथा।।
पौष्णमेकादशं प्रोक्तं मैत्रावरुण द्वादशम्।
त्वाष्ट्रं त्रयोदशं ज्ञेयं वासवं तु चतुर्दशम्।।
मारुतं पञ्चदशकं सौम्यं षोडशकं स्मृतम्।
सप्तदशं त्वाङ्गिरसं वैश्वदेवमतः परम्।।
आश्विनं चैकोनविंशं प्राजापत्यं तु विंशकम्।
सर्वदेवमयं प्रोक्तमेकविंशमतः परम्।।
रौद्रं द्वाविंशकं प्रोक्तं त्रयोविंशं तु ब्राह्मकम्।
वैष्णवं तु चतुर्विंशमेताह्यक्षर देवताः।।

निम्नाङ्कित तालिका से मन्त्र वर्ण एवं उनके देवताओं को ठीक से समझ सकते हैं—

	मन्त्र वर्ण	देवता		मन्त्र वर्ण	देवता
१.	तत्	अग्नि	१३.	स्य	त्वष्टा
२.	स	वायु	१४.	धी	वसु
३.	वि	सूर्य	१५.	म	मरुत्
४.	तुर्	विद्युत्	१६.	हि	सोम
५.	व	यम	१७.	धि	आङ्गिरस
६.	रे	वरुण	१८.	यः (यो)	विश्वेदेवा
७.	णि	बृहस्पति	१९.	यः (यो)	आश्विन (यो)
८.	यम्	पर्जन्य	२०.	नः	प्रजापति
९.	भ	इन्द्र	२१.	प्र	सर्वदेव
१०.	र्गः (र्गो)	गन्धर्व	२२.	चो	रुद्र
११.	दे	पूषा	२३.	द	ब्रह्म
१२.	व	मैत्रावरुण	२४.	यात्	विष्णु

गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी।
गायत्र्यास्तु परं नाऽस्ति दिवि चेह च पावनम्।।
गायन्तं त्रायते यस्माद्गायत्री तेन सोच्यते।

अर्थात् गायत्री वेदों की माता है। यह पापों का नाश करने वाली है। इस लोक में या परलोक में गायत्री से उत्तम पवित्र करने वाला कोई मन्त्र नहीं है।गायत्री का गान—जन या आराधना करने वाले व्यक्ति की यह गायत्री रक्षा करती है।

गायत्रीजपविधि:

ॐकारं पूर्वमुच्चार्य भूर्भुव: स्वस्तथैव च।
गायत्री प्रणवश्चान्ते जप एवमुदाहृत:।।
प्रातर्नाभौ करं कृत्वा मध्याह्ने हृदि संस्थितम्।
सायं जपेच्च नासाग्रे ह्येष जपविधि: स्मृत:।।

अर्थात् गायत्री मन्त्र के जप में सबसे पहले प्रणव (ॐ) का उच्चारण करने के बाद 'भूर्भुव स्व:' इन व्याहृतियों का उच्चारण करके गायत्री मन्त्र के अन्त में पुन: प्रणव का उच्चारण करना चाहिए।

इस प्रकार प्रणव से सम्पुट चतुर्विंशति—चौबीस अक्षरों वाली गायत्री का जप करने से ही साधक को सिद्धि एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्राति:, मध्याह्न एवं सायाह्न में क्रमश: जप—मालिका में हाथ की स्थिति—प्रात: नाभि के सामने, मध्याह्न (दोपहर) में हृदय के सामने एवं सायं नासिका (नाक) के सामने होनी चाहिए।

सन्दर्भ

1. *पारस्करगृह्यसूत्र* 2/3/5
2. *शतपथब्राह्मण* 11/5/4/1
3. *शतपथब्राह्मण*, *बृहदारण्यकोपनिषद्*, अध्याय 5, कं. 7
4. *पारस्करगृह्यसूत्र* 1/16/9
5. तदेव, 1/16/10
6. तदेव, 1/16/13
7. गायत्र्या वसव: *पिङ्गलछन्द:सूत्र* 3/3
8. *पिङ्गल छन्द:सूत्र* 3/2
9. तदेव 3/1
10. *ऋग्वेद* 3/4/10/5
11. *यजुर्वेद* 12/4
12. *ऋक् प्रातिशाख्य* 17/36 'पादपूर्णार्थन्तु क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत्।' (*सर्वानुक्रमणिका* 1/3)

13. *अष्टाध्यायी* 6/1/74
14. *ऋग्वेद* 4/7/3/52
15. तदेव 1/2/20/2
16. तदेव 3/6/1/1
17. तदेव 6/4/39/2
18. प्र अन(ण) उ दा न वि आ न (1) प्र (2) अन (3) उ (4) दा (5) न (6) वि (7) आ (8) न
19. *शुक्लयजुर्वेद* 1/10
20. *शतपथब्राह्मण* 14/5/15/10
21. तदेव 14/5/15/4
22. *शुक्लयजुर्वेद* 7/42
23. *शतपथब्राह्मण* 14/5/15/5
24. तदेव, 14/5/15/6; *बृहदारण्यक उपनिषद्* 5/1/14/6
25. *शतपथब्राह्मण*, 2/1/4/11-13
26. *निरुक्त* 1/1
27. तदेव 7.15

पूर्ववरिष्ठ वेदाध्यापक,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
के 25/4
रामघाट (नया घाट), सूत टोला, वाराणसी

शाक्ततन्त्र का परमतत्त्व

डॉ. हर्षदेव माधव

शिव एवं शाक्त तन्त्र के अनुसार तन्त्र ग्रन्थों में परमसत्ता का स्वीकार अखण्ड, दिव्यरूप या चिद्रूप ने किया है। यह सत्ता 'स्वातन्त्र्यमय' है। 'स्वातन्त्र्य' का अर्थ होता है—अन्य निरपेक्षता और उसी का नामान्तर है—आनन्द सत् चित्। चित् ही आनन्द है। सत् परमार्थ स्थिति में अवाक्-मनस-गोचर है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह चित् है, रसास्वादन की दृष्टि से वह आनन्द है। स्वप्रकाशता के कारण वह आनन्द है। सत् अपना प्रकाश अपने पास रखकर स्वरूपानन्द का आस्वाद करता है।[१]

परमशिव ही परमशक्ति है। शिव अपनी पराशक्ति बिना के —इच्छाहीन, ज्ञानहीन, क्रियाहीन एवं स्पन्दन में असमर्थन होने के कारण शव मात्र है।

शिवो देवः शिवा देवी शिवज्योतिरिति त्रिधा।
अलिङ्गमपि तत्तत्त्वं लिङ्गभेदेन कथ्यते।। — (कुमार कृत *तत्त्वप्रकाश व्याख्या*, पृ. ५)

शिव और शिवा का परम ऐक्य सामरस्य है।[२] श्रुति के अनुसार 'परमसाम्यमुपैति दिव्यम्' कौल के मतानुसार शिव एवं शिवा में शेष-शेषी भाव है। उत्तर कौल साधक (कौल के परवर्ती साधक) शक्ति को मुख्य मानते हैं।

पञ्च प्रकार का साम्य

शिव तथा शक्ति में पाँच प्रकार का साम्य है :

१. अधिष्ठान साम्य
२. अनुष्ठान साम्य
३. अवस्थान साम्य
४. रूप साम्य एवं
५. नाम साम्य

शिव एवं शिवा में ऐक्य होने पर भी शिव निष्क्रिय और साक्षी है, शक्ति पञ्चकृत्यपरायणा है। पाँच कृत्य अर्थात् सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान एवं अनुग्रह।[३]

पराशक्ति जब आत्मगर्भस्थ विश्व को अर्थात् कि प्रकाश को देखने के लिए उन्मुख होती है तब मात्रविच्छिन्न शक्ति एवं शिव साम्यभावापन्न होकर एक बिन्दुरूप से परिणत हो जाते हैं और यह चैतन्य ज्योतिर्लिङ्ग के रूप में प्रकट होता है।

इस बिन्दु को तान्त्रिक परिभाषा में कामरूप पीठ कहते हैं। इस पीठ में अभिव्यक्त चैतन्य स्वयंभू लिङ्ग के नाम से पहचाना जाता है। कामरूप पीठ एकमात्रा शक्ति अंश और एक मात्रा शक्ति एवं शिव के इन दो अंशों को क्रमश: शान्ताशक्ति और अम्बिकाशक्ति कहा जाता है। इस पीठ में महाशक्ति का आत्मप्रकाश परावाक् के रूप में प्रख्यात है।

शान्ता शक्ति 'इच्छा' के रूप में परिणत होती है। शिवांशयुक्त अम्बिका शक्ति 'वामा' के रूप में आविर्भूत होती है। इन दोनों शक्तियों के पारस्परिक वैषम्य का परिहार होने से अद्वैत सामरस्यमय बिन्दु उत्पन्न होता है। इस बिन्दु को 'पूर्णगिरिपीठ' कहा जाता है। यह चिद्विकार बाह्यलिङ्ग है। 'पश्यन्ती वाणी' की यह अवस्था है।

तत्पश्चात् इच्छाशक्ति के उन्मेष के साथ द्वितीय स्तर (श्रेणी) का सृष्टि विकास होता है। इच्छा के प्रभाव से उसके गर्भ के एक भाग से सृष्टि उत्पन्न होती है। अब काल के प्रभाव के कारण सृष्टि क्रिया का क्रमानुसार आरम्भ होता है। इसके बाद इच्छा शक्ति से ज्ञान शक्ति का उदय होता है। शिवांश ज्येष्ठाशक्ति के साथ अद्वैतभाव से मिलकर जालन्धर पीठ सामरस्य बिन्दु की रचना करता है। इस बिन्दु से अभिव्यक्त चैतन्य 'इतरलिङ्ग' के नाम से जाना जाता है। यह 'मध्यमा वाक्' का आविर्भाव है।

जब स्थिति शक्ति क्षीण हो जाती है, तब स्वभाव के नियम से ही अन्तर्मुख आकर्षण की प्रबलता होने के कारण संहार शक्ति की क्रिया आरम्भ होती है। तब ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति के रूप में परिणत होकर शिवांश रौद्रीशक्ति के साथ साम्यभाव प्राप्त करती है। इससे जिस अद्वैत बिन्दु का आविर्भाव होता है उसे 'उड्डीयानपीठ' कहा जाता है। इस बिन्दु से चित्सशक्ति-महातेज सम्पन्न परलिङ्ग रूप में आविर्भूत होती है। इस शब्द की 'वैखरी' नामक चौथी भूमिका है। यह संहारशील क्षयिष्णु जगत् वैखरी शब्द की विभूति है।

पश्यन्ती मध्यमा	**वैखरी**
तन्त्र का त्रिकोण इस प्रकार	सृष्टि, स्थिति, संहार
	वामा, ज्येष्ठा, रौद्री
	ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र-शिवाङ्ग
	इच्छा, ज्ञान, क्रिया-शक्त्यंश
	बिन्दु शिव-शक्ति का सामरस्य है।

अहं ज्ञान-शिवोऽहम् – ही शिव का स्वरूप ज्ञान है।

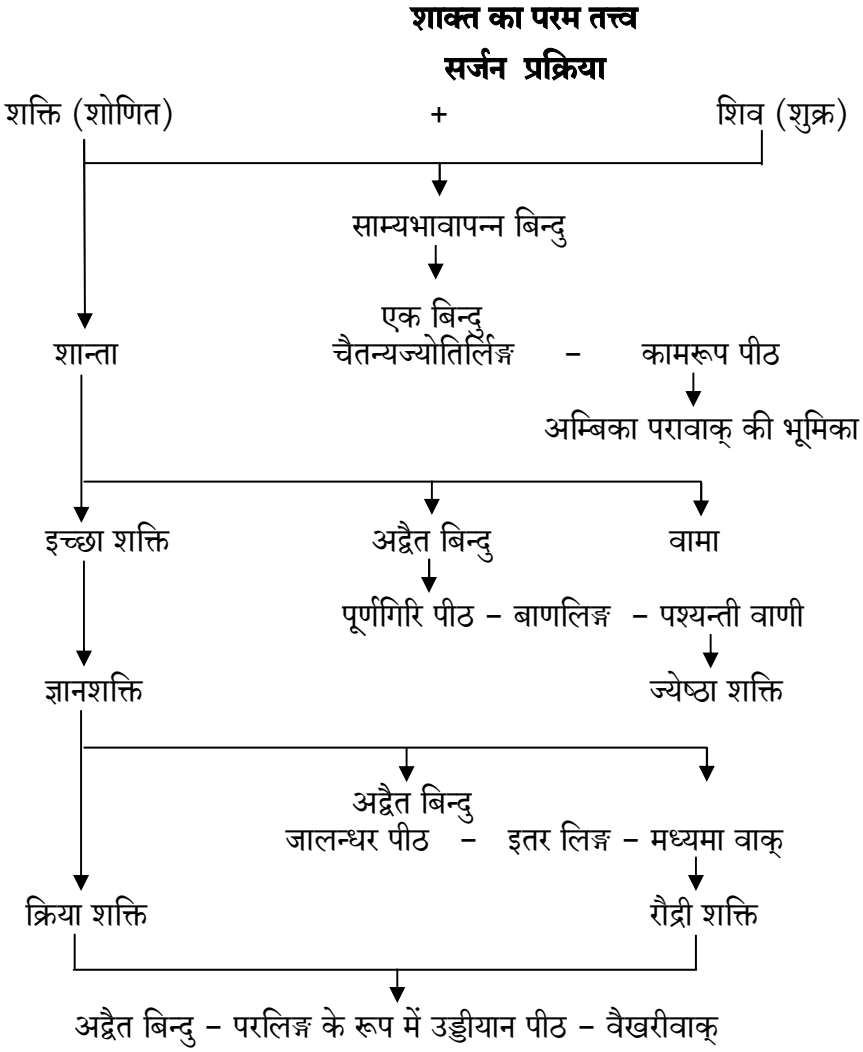

तिरोधान अर्थात् आत्मसंकोच — इसके बिना सृष्टि उत्पन्न नहीं होती।

तिरोधान रूप आत्मसंकोच में से निवृत्ति और अनुग्रह।

इस प्रकार *ललितासहस्रनाम* में बताये अनुसार—सृष्टिकर्त्री ब्रह्मरूपा, गोप्त्री गोविन्दरूपिणी, संहारिणी रुद्ररूपा, तिरोधानकरी ईश्वरी, अनुग्रहदा सदाशिवा—ये भगवती के पाँच कृत्य हैं। जीव के अनेक क्लेशों को देखकर भगवती साधक को मोक्ष का अनुग्रह करती है। कृपा का आविर्भाव अनुग्रहशक्ति के कारण होता है। इसलिए तो *ललितासहस्रनाम* की भगवती को 'करुणारससागरा अव्याज-करुणामूर्ति' कहा गया है। भगवती

की अनुग्रह शक्ति के कारण ही गुरु द्वारा शक्तिपात शक्य बनता है। इसीलिए तो राजनक क्षेमराज *प्रत्यभिज्ञाहृदय* में कहते हैं कि —चिति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु:।

वरिवस्यारहस्य के प्रथम अंश के तृतीय श्लोक की व्याख्या करते हुए भास्करराय लिखते हैं—'मैं चाहता हूँ, मैं जानता हूँ।' इसमें उत्तम पुरुष के रूप में भासित होने वाला स्फुरित ज्ञान ही प्रकाश नाम से पहचाने जाने वाला ब्रह्म है। उस ब्रह्म का ही आनन्दरूपी अंश पराहन्ता, विमर्श, परा, ललिता, भट्टारिका, त्रिपुर सुन्दरी आदि नामों से जाना जाता है।

वामकेश्वर तन्त्र के अनुसार चिति ही जगत् स्वरूप में परिणत होता है।

शैव और शाक्त दोनों आगमों में ३६ (छत्तीस) तत्त्वों का समावेश हुआ है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, अविद्या, कला, राग, काल और नियति—इन ग्यारह तत्त्वों के साथ सांख्य के २५ (पच्चीस) तत्त्वों को जोड़ना है।

आद्यशक्ति के आश्रय बिना प्रकाश अपना अनुभव नहीं कर सकता। (जिस प्रकार दर्पण से ही हमारे स्वरूप की प्रतीति होती है, उसी प्रकार परमेश्वर भी शक्ति को देखकर स्वत्व प्राप्त करते हैं।

(१) शिव (या शाक्त दर्शन के अनुसार शक्ति) प्रथम तत्त्व है।

सिसृक्षारूपपोपाधिविशिष्ट: परमशिव एव केवलशिवपदवाच्यो भवति।
स एव तत्त्वानां मध्ये आदिम:।।[५]

(२) परम शिव स्वयं ही पूर्ण अहं हैं। उसकी पूर्णाहन्ता की स्फूर्ति ही शक्ति है। रामेश्वर 'रत्नत्रय परीक्षा' का उदाहरण देकर समझाते हैं—

कर्तृत्वं तत्र धर्मी कलयति जगतां पञ्चसृष्ट्यादिकृत्ये धर्म: पुरुषमाद्या (त्) सकलजगदुपादानमात्रं बिभर्ति। स्त्रीरूपं प्राप्य दिव्या भवति च महिषी स्वाश्रयस्यादिकर्तु: प्रोक्तौ धर्मप्रभेदावपि निगमविदां धर्मिवद्ब्रह्मकोटी।[६]

(३) इच्छा शक्ति से जगत् उत्पन्न होता है। उसका अहंरूप—

अहन्तया यद्दर्शनं तदहमिति तादृशस्पष्टवृत्तिमान् सदाशिवपदवाच्य: तृतीयतत्त्वम्।[७]

यही नाद शक्ति है। यही सदाख्य तत्त्व है।

(४) शिव-शक्ति का बहिरुन्मेष ईश्वर नामक चतुर्थ तत्त्व है। ईश्वर ऐसा मानते हैं कि 'यह जगत् मैं हूँ।'

इदं जगदिति केवलं भेदविषयिणी या वृत्ति: तद्वान् ईश्वरपदवाच्य:।[८]

(५) शुद्ध विद्या पाँचवाँ तत्त्व है। 'यह जगत् मैं ही हूँ।' या 'यह जगत् मेरा ही रूप है' सदाशिव सम्बन्धी यह वृत्ति ही विद्यातत्त्व है। इसमें अहंता एवं इदंता का ऐक्य लगता है।

जगदहमेवेत्याकारिका या सदाशिवसम्बन्धिनी वृत्तिः सा विद्या पदवाच्या पञ्चमं तत्त्वम्।

(६) माया छठवाँ तत्त्व है। यह जगत् मुझसे भिन्न है, ऐसी प्रतीति होती है। शुद्ध विद्या से अभेद बुद्धि होती है। माया से भेदबुद्धि उत्पन्न होती है।

इदं जगदित्याकारिका ईश्वरनिष्ठा भेदविषयिणी वृत्तिः मायापदवाच्या षष्ठं तत्त्वम्।

माया की पाँच उपाधियाँ हैं, जिन्हें पाँच कञ्चुक कहा जाता है। ये हैं—अविद्या, कला, राग, काल, नियति।

(७) शुद्ध विद्या का तिरोधान करने वाले सातवें तत्त्व को अविद्या कहते हैं। शिव में से जीव होते समय ज्ञान संकुचित होता है।

पूर्वोक्तविद्यातिरोधनाशक्तिमती तद्विरोधिनी अविद्यापदवाच्या सप्तमं तत्त्वम्।

(८) कला आठवाँ तत्त्व है। ईश्वर में सर्वकर्तृत्व होता है। जीव में संकुचित कर्तृत्व होता है। ये कलाएँ शक्ति रूप में तत्त्वों की क्रियाएँ हैं। शाक्ततन्त्रों में इन कलाओं का निर्देश है—

जीवनिष्ठं सर्वकर्तृत्वं यत्किञ्चित्कर्तृत्वेन संकुचितं तदेव कलापदवाच्यं अष्टमं तत्त्वम्।

(९) **राग**—ईश्वर में नित्यतृप्ति होता है, जीव को भोग्य विषय में राग या अनुराग होता है। यह उसकी अतृप्ति राग है।

(१०) **काल**—शिवतत्त्व त्रिकालबाधित है। जीव को छः भाव विकार होते हैं। अस्ति-जायते-वर्धते-विपरिणमते-अपक्षीयते-विनश्यति। ये भावविकार काल के कारण होते हैं और उसके कारण जीवन का नियत्व पर एक आवरण-सा पड़ जाता है।

(११) **नियति**—शिव स्वातन्त्र्य रखती है। इस स्वातन्त्र्य का आच्छादन होता है। इस विद्या के कारण स्वातन्त्र्य शक्ति संकुचित होती है, वही नियति है। नियति जीव को कार्य-अकार्य में नियन्त्रण करती है।

(१२) **जीव** बारहवाँ तत्त्व है। यह माया के पाँच कञ्चुकों का आश्रयभूत है।

नियति-काल-राग-कला-अविद्याऽऽश्रयो जीवः द्वादशं तत्त्वम्।[९]

(१३) **प्रकृति**—सत्व, रजस्, तमस् इन तीनों की साम्यावस्था।

(१४) **मन**—संकल्पक इन्द्रिय।

(१५) **बुद्धि**—अध्यवसाय – निर्णायक इन्द्रिय।

(१६) **अहंकार**।

(१७ से २१) **पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ**—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण।

(२२ से २६) **पाँच कर्मेन्द्रियाँ**—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ।

(२७ से ३१) **पाँच तन्मात्राएँ**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध।

(३२ से ३६) **पाँच महाभूत**—पृथ्वी, पानी, तेज, वायु, आकाश।

इस प्रकार सदाशिव से पृथ्वी तक यह विश्व फैला हुआ है। सदाशिव से ही सृष्टि आविर्भूत होती है। शिव और शक्ति दोनों एक ही हैं, अभिन्न हैं।

विमर्श अन्तर्लीन हो वह शिव।

विमर्श बहिर्मुख हो तब सृष्टि प्रक्रिया होती है।

शिवभाव गौण होने पर वह शक्ति कहलाता है।

शिव एवं शक्ति का परम मिलन सामरस्य है। वह तत्वातीत है। यह परम अवस्था पराशक्ति है। शैवों के अनुसार परम शक्ति है।

तान्त्रिक सृष्टि प्रक्रिया और चार प्रकार की वाणी

चित् विचिकीर्षा से घनीभूत होने पर कारण बिन्दु उत्पन्न होता है, उसमें से कार्य बिन्दु फिर नाद – फिर बीज उत्पन्न होता है।

कारण बिन्दु –	कार्य बिन्दु	→	नाद	→ बीज
	पर		सूक्ष्म	स्थूल
	चित्		चित्–अचित्	अचित् (जड़)

अधिदैवत के रूप में—

अव्यक्त	→	ईश्वर	→	हिरण्यगर्भ	→	विराट्
शान्ता	→	वामा	→	ज्येष्ठा	→	रौद्री
अम्बिका	→	इच्छा	→	ज्ञान	→	क्रिया

अधिभूत रूप में

कामरूप–पूर्णगिरि–जालन्धर उड्डीयान पीठ – अध्यात्म रूप में कारण बिन्दु शक्ति या कुण्डलिनी के नाम से मूलाधार में शरीर में स्थित हैं।

कारण बिन्दु ही निस्पन्द ब्रह्म या परावाक् है। विमर्शयुक्त मन वाला कार्य बिन्दु पश्यन्ती वाक् है।

बुद्धियुक्त शब्दब्रह्म विशेष स्पन्दित, प्रकाशमान होकर नादमय बने तो यह मध्यमा वाक् है।

शक्तिसाधना और मोक्ष

शक्ति साधना का मूल सूत्र नादानुसन्धान अथवा शब्द का क्रमिक उच्चारण है। गुरु द्वारा वैखरी वाणी में प्राप्त मन्त्र को आत्मसात् करके कुण्डलिनी जागृति द्वारा परावाक् तक पहुँचा जाता है। बिन्दु या कुण्डलिनी विक्षुब्ध होकर नाद का विकास करती है। ज्ञान के संचार के साथ आज्ञाचक्र का भेदन होता है। आज्ञाचक्र के बाद ही बिन्दु है, जिसे ज्ञान चक्षु या तीसरा नेत्र कहते हैं। यह बिन्दु भी अन्ततः तिरोहित हो जाता है। जब तक बिन्दु तिरोहित नहीं हो जाता तब तक अहंभाव का विसर्जन नहीं होता और तब तक महाबिन्दु या शिवभाव की अभिव्यक्ति भी सम्भव नहीं है।[१०]

श्रीयन्त्र के चक्र और शरीर के चक्रों में अत्यन्त साम्य है। श्रीयन्त्र के मध्य में स्थित बिन्दु शक्ति की पादुका का स्थान है। मूलाधार ही त्रिकोण है, अष्टकोण ही स्वाधिष्ठान चतुरस्र का बिन्दु स्थान सहस्रदल है। आज्ञाचक्र में पन्द्रह कला एवं त्रिकोण का बिन्दु मिलकर सोलह कलाएँ हैं। यह शुक्र–शाणितमय पादुका ही आत्मा है। उसके अमृतमय आस्वादन से विशुद्ध आनन्द का अनुभव होता है। इस अनुभव के लिए गुरु कृपा की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[११]

देवी अथर्वशीर्ष में तन्त्र का परमतत्त्व वर्णन इस प्रकार से हुआ है—

मन्त्राणां मातृकादेवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी।
ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी।
यस्या: परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता।।[१२]

सामरस्य

तन्त्र में सामरस्य शब्द महत्त्वपूर्ण है। शङ्कराचार्य *सौन्दर्य लहरी* के ३४वें श्लोक में कहते हैं—

शरीरं त्वं शम्भो: शशिमिहिरवक्षोरुहयुगं
तवात्मानं मन्ये भगवति नवात्मानमनघम्।
अत: शेष: शेषीत्ययमुभयसाधारणतया
स्थित: सम्बन्धो वां समरसपरानन्दपरयो:।।[१३]

इस श्लोक के द्वारा शङ्कराचार्य जी यह कहना चाहते हैं कि शिव और शक्ति के बीच परस्पर गौण-प्रधान भाव है। परम आनन्दरूप शिव और पराशक्ति के बीच समरसता ही सामरस्य है। केवलाद्वैत की भाँति प्रपञ्च अध्यास नहीं परन्तु यहाँ तो प्रपञ्च ही देवी का स्वरूप है। सृष्टि-स्थिति-लय के समय शक्ति का प्राधान्य होता है एवं शिव का गौणत्व होता है। लक्ष्मी घर के जब सबका उपसंहार होता है, तब शिव का प्रधान्य और शक्ति का गौणत्व होता है।[१४] *ललिता सहस्रनाम* में 'सामरस्य परायणा' ७९२वाँ नाम है। भास्कराय के मतानुसार जब भोक्ता एवं भोग्य का भाव समाप्त होकर चिन्मय हो जाता है तो उस अवस्था को सम कहते हैं। देवी ही यह प्रदान करती है। इसीलिए वह सामरस्यपरायणा कहलाती है। जिसका स्थान सामरस्य है, वह देवी है।

शिवशक्त्योर्भावसामरस्यमेव परममयनं स्थानं यस्या:।[१५]

तान्त्रिक प्रतीक में अधोमुख त्रिकोणशक्ति है। उसके मध्य का बिन्दु शिव-शक्ति का सामरस्य है। श्रीयन्त्र के मध्य में स्थित त्रिकोण परम ऐक्य का पराकाष्ठा द्योतित होती है।[१६]

कुण्डलिनी शक्ति

शारदातिलक तन्त्र के अनुसार—

चैतन्य सार्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मति:।
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्।।[१७]

यह चैतन्यरूप कुण्डलिनी सर्वषा विश्वरूपिणी है, जो शिव का सान्निध्य प्रदान कराती है और आनन्द प्रदायिनी है। वह शब्द ब्रह्ममयी वर्णमयी या मातृकामयी है। मन्त्र योग द्वारा मन्त्र की स्थूल वाणी (वैखरी) से आरम्भ होकर धीरे-धीरे मन्त्र साधक मध्यमा, पश्यन्ती को पार कर मन्त्र के रहस्यों को आत्मसात् करके परवाणी रूप पराम्बा का साक्षात्कार करती है।[१८]

मन्त्र के रहस्य

मन्त्र द्वारा तन्त्र योग और मन्त्र योग दोनों सिद्ध होते हैं, परन्तु इन मन्त्रों के शब्द गुप्त (गोपनीय) होते हैं। मन्त्र के साथ न्यास, मुद्रा, कीलन, उत्कीलन आदि के विषय में भी जानना पड़ता है। तान्त्रिक परिभाषा गोपनीय होती है इसलिए इन रहस्यों को गुरु की मदद बिना समझा जा सकता है। जैसे कि *देव्युपनिषद्* का १४वाँ श्लोक देखिए—

कामो योनि: कामकला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्र:।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरुच्चेषा विश्वमाताऽऽदिविद्योम्।।

प्रस्तुत श्लोक में काम = क, योनि = ए, कामकला = ई, वज्रपाणि = ल, गुहा = ह्रीं, हस = हस, मातरिश्वा = क, अभ्र = ह, इन्द्र = ल, पुनर्गुहा = ह्रीं, सकल = सकल, माया = ह्रीं।

(इस प्रकार कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं-पञ्चदशी मन्त्र बनता है।[१९]

अन्तर्याग एवं बहिर्याग

त्रिपुर सुन्दरी की उपासना के दो प्रकार हैं—बहिर्याग और अन्तर्याग। बहिर्याग कौल साधकों का मार्ग है जिसमें यन्त्र की उपासना होती है। ये साधक कुलमार्ग के साधक हैं। 'कौलिनी, कुलयोगिनी' जैसे ललिता के नामों से इस ओर इशारा है।

वामकेश्वरतन्त्र में अन्तर्याग की बात मुख्य है। इसलिए यह शाक्त सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वैसे तो अन्तर्याग की भूमि *भावनोपनिषद्* में भी है।[२०]

टीकाकार लक्ष्मीधर भी इस बात को सविस्तार समझाते हैं।[२१]

अन्तर्याग के उपासक समयाचार वाले हैं।[२२]

पञ्चमकार

मद्य, मांस, मिथुन, मुद्रा एवं मत्स्य के रूप में प्रसिद्ध पाँच मकार भोग द्वारा योग की साधना सूचित करते हैं। पञ्च मकारों के सूक्ष्म अर्थ भी हैं।[२३]

अन्ततः कहा जा सकता है कि तन्त्र का परम तत्त्व प्रकाश ही परम शक्ति या परम शिव प्रकाश ही परम ध्येय एवं उस प्रकाश को अपने में आत्मसात् करके स्वयं प्रकाश शिव बनने का मार्ग ही तन्त्र है। प्रकाश से प्रकाशित होकर स्वयं प्रकाशपुञ्ज बनने की यह यात्रा 'तमसोमा ज्योतिर्गमय' या 'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि' की प्राप्ति मात्र है, जिसमें अवरोध सहायक है, निषेध विधेय है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. श्री सर ज्होन. वुडरफ *तत्त्व* 'शक्ति अङ्क' *कल्याण,* श्रावण भाद्रपद १९९१, पृ. ६५
२. श्री न. दे. मेहता *शाक्त सम्प्रदाय* में जयन्तकृष्ण ह. दवे की प्रस्तावना श्री फार्बस गुजराती भाषा, बम्बई-४, द्वितीय, १९७३, पृ. ११-२४
३. तदेव, पृ. १४
४. श्री गोपीनाथ कविराज *शक्तिसाधना,* 'शक्ति अङ्क', पृ. ५५-५७
५. सं. ए. महादेव शास्त्री *परशुराम कल्पसूत्रम्* ५२, रामेश्वरटीका ओरिएन्टल इंस्टीट्यूट, वडोदरा, १९९९, पृ. २०
६. तदेव, पृ. २०
७. तदेव, पृ. २०
८. तदेव, पृ. २०
९. तदेव, पृ. २०
१०. गोपीनाथ कविराज, *शक्तिसाधना,* पृ. ६१

११. श्री चूनीभाई भट्ट, *पराम्बाविलास,* प्रकाशक स्वयं, सूरत, १९९१, पृ. ९३-१०१
१२. *देव्युपनिषद्,* २७, सं. वेदमूर्ति श्रीराम शर्मा आचार्य *१०८ उपनिषद्* (साधनाखण्ड) प्रथम, १९९९, पृ. ९०
१३. सं. गिरजाशङ्कर पाठक, *सौन्दर्यलहरी* प्रवीण पुस्तक भण्डार, राजकोट, श्लोक ३४
१४. *शाक्त सम्प्रदाय,* पृ. २४
१५. सं. भारतभूषण, *ललितासहस्रनाम,* सौभाग्यभास्करटीकायुक्त चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९८९, पृ. ४८७-४९८
१६. *पराम्बाविलास,* पृ. १९२-१९३
१७. सं. आर्थर एवलोन, *शारदातिलकतन्त्रम्,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९१, १-१३, १४
१८. *पराम्बाविलास,* पृ. १३६-१५०, *शाक्तसम्प्रदाय,* पृ. २१-२२
१९. *देव्युपनिषद्,* मन्त्र १४
२०. देखें, *१०८ उपनिषद्* अन्तर्गत साधनाखण्ड में, पृ. १४५-१४६
२१. A Kuppu Swami Woriyar *सौन्दर्यलहरी,* अष्टटीका समेता Sri Chandrasekharendra Samajam[Madaras : p. ११९-१२७
२२. देवदत्त शास्त्री और पराम्बाविलास, *तन्त्र सिद्धान्त और साधना,* संगम प्रकाशन, इलाहाबाद-३, १९९३, पृ. १३-१४
२३. तदेव, पृ. ६२-६४

८ राजतिलक बैंग्लो,
आबादनगर के पास,
बोपल
पो. अहमदाबाद-३८००५८
चलवाणी-०९४२७६२४५१६

तन्त्रागम में मन्त्र : स्वरूप एवं प्रकार

प्रो. बीना अग्रवाल

'मन्त्र' शब्द से ही उसका अर्थ और स्वरूप, दोनों स्पष्ट हो जाते हैं। मनन, चिन्तन अथवा जप करने पर जो मनुष्य की रक्षा करता है उसे ही मन्त्र कहा गया है। 'मनु अवबोधने' और 'तृ पालने' धातु से निष्पन्न मन्त्र वस्तुतः मनन एवं त्राण धर्मात्मक होता है।[१] रक्षा करने के साथ ही मन्त्र साधक को आत्मसाक्षात्कार करवाने अथवा परम तत्त्व को प्राप्त करवाने में भी समर्थ होता है।[२] इसीलिए *स्तव चिन्तामणि* में मन्त्र की विशेषताएँ मनन व रक्षण के साथ ही पूर्ण अहन्ता का परामर्श भी बताई गई हैं—**"मननत्राणधर्मा पूर्णाहंविमर्शपरमार्थो मन्त्रः।"**[३]

उद्गम की दृष्टि से मन्त्र दो प्रकार के होते हैं—वैदिक मन्त्र और तान्त्रिक मन्त्र। श्रौतसूत्रों में ऋक्, यजुष् और साम इन्हें 'मन्त्र' कहा गया है।[४]

इन वैदिक मन्त्रों का यज्ञों में विनियोग किया जाता है। इन यज्ञों के माध्यम से यजमान की इच्छित कामनाओं की पूर्ति निश्चित मानी गई है। श्रुतिवाक्य—'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' अर्थात् स्वर्ग की कामना वाले व्यक्ति को ज्योतिष्टोम याग करना चाहिये से स्पष्ट है कि यज्ञ अभीष्ट फल की प्राप्ति के माध्यम माने गए हें। वेदों में उपलब्ध समस्त वाक्यों को मन्त्रस्वरूप माना गया है। मीमांसाशास्त्र के अनुसार **"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्"**[५] अर्थात् सम्पूर्ण वेद क्रियापरक है, क्रिया से सीधे सम्बद्ध न होने वाले वाक्यों को आनर्थक्य न माना जाए इसलिए जिन मन्त्रों का यज्ञ में सीधे प्रयोग नहीं होता, उन्हें भी किसी देवता की प्रशंसा करने अथवा किसी क्रिया का निषेध करने की दृष्टि से यज्ञ से सम्बन्धित माना गया है।[६]

इस प्रकार समस्त वैदिक वाक्य जो अपौरुषेय माने गए हैं, पांच भागों में विभक्त हैं—विधि, मन्त्र, अर्थवाद, नामधेय और निषेध।[७] वैदिक मन्त्र छान्दस होते हैं, उनके उच्चारण में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन स्वरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

तान्त्रिक मन्त्र वर्णात्मक होते हैं। इनके उच्चारण में लयबद्धता के साथ ही साधक की एकाग्रता और चेतना के साथ एकाकारता का विशेष महत्त्व होता है—**"मन्त्राः वर्णभट्टारकाः लौकिकपारमेश्वरादिरूपाः मननत्राणरूपाः विकल्पसंविन्मयाः"**[८] तान्त्रिक मन्त्रों के विषय में एक मान्यता यह भी है कि ये कलियुग में शीघ्र फल प्रदान करने वाले हैं इसलिए जप, यज्ञादि सभी क्रियाओं में इनका विनियोग प्रशंसनीय है–

कलौ तन्त्रोदिता मन्त्राः सिद्धास्तूर्णफलप्रदाः।
शस्ताः कर्मसु सर्वेषु जपयज्ञक्रियादिषु।।[९]

ये मन्त्र आन्तरिक गुप्त भाषण, जिसे जप भी कहते हैं, के द्वारा साधक की चेतना को परम चेतना से जोड़ते हैं। साधक की देह में स्थित चेतना (Consiousness) अथवा साधक का चित्त वैश्विक चिति (Cosmic consciousness) का ही संकुचित रूप है[१०], इसलिए साधक जब बाह्य व्यापारों से अपने चित्त को विरत कर अन्तर्मुखी बनाता है और उसे अपनी मूल चेतना पर केन्द्रित करता है, तब निरन्तर अभ्यासपूर्वक वह अपनी चेतना का सम्बन्ध विश्वात्मक चैतन्य से स्थापित कर पाता है। इसीलिए '**शिवसूत्रों**' में साधक के चित्त को ही मन्त्र कहा गया है। "चित्तमन्त्रः" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए विमर्शिनीकार का मानना है कि मन्त्र देवता के विमर्श में तत्पर और उस देवता से सामरस्य स्थापित कर लेने वाले आराधक का चित्त ही मन्त्र है, न कि वर्णों का विशिष्ट विन्यास। **"मन्त्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्तसामरस्यमाराधकचित्तमेव मन्त्रः न तु विचित्रवर्णसंघट्टनामात्रम्।"**[११] अभिनवगुप्त के अनुसार पद और मन्त्र एक ही है—**"तदेव च पदं मन्त्रः।"** पद बहिर्मुखता की स्थिति है और मन्त्र अन्तर्मुखता की। निरन्तर उच्चारण के कारण पद अथवा वर्ण का ज्ञानात्मक अंश गौण हो जाता है और वह साधक के चेतना का ही अंश प्रतीत होने लगता है, यही मन्त्र का अन्तर्मुखी भाव है। इसी प्रकार मन्त्र 'अहं परामर्श' से युक्त होता है। 'अहम्' पद साधक की अन्तःस्थित चेतना का वाचक होने के साथ ही 'अ' से प्रारम्भ कर 'ह' पर्यन्त वर्णमाला का द्योतक भी है। इसीलिए 'अहं परामर्श' को सम्पूर्ण विश्व का सूचक, प्रमाता से अभिन्न, परम मन्त्रवीर्य माना गया है और 'अहं परामर्श' से रहित मन्त्रों को शरत्कालीन बादलों की भाँति निष्फल माना गया है—

आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत्।[१२]

प्रकाशरूप शिव की आत्मविश्रान्ति 'अहम्भाव' मानी गई–

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहं भावो हि कीर्तितः। *अजड़प्रमातृसिद्धि,* २२

'अ' अनुत्तर से प्रारम्भ होने वाली पारमेश्वरी विसर्ग शक्ति 'ह' तक स्वयं को स्थूल रूपों में आभासित करती है, एवं पुनः अनुत्तर स्वात्म में ही विश्रान्त होती है, इसीलिए 'अहं परामर्श' सम्पूर्ण विश्व का सूचक, प्रमाता से अभिन्न एवं परम मन्त्रवीर्य माना गया है—"तदेवमनुत्तरैव इयं पारमेश्वरी विसर्गशक्तिर्हकारपर्यन्तं स्थूलं रूपमाभास्य पुनरपि स्वस्वरूपाप्रच्यावादनुत्तरे स्वात्मन्येव विश्राम्यति, यदवद्योतनाय प्रत्याहृताशेषविश्वः प्रमात्रेकरूपः परमन्त्रवीर्यात्मा अयमहं परामर्शः।"[१३]

इस अहं परामर्श से युक्त होने पर सामान्य श्लोक, गाथा आदि भी मन्त्रस्वरूप माने गये हैं—

श्लोकगाथादि यत्किञ्चिदादिमान्त्ययुतं ततः।
तस्माद्विदंस्तथा सर्वं मन्त्रत्वेनैव पश्यति।।[१४]

तात्पर्य यही है कि साधक की चेतना (अहं परामर्श) से संयुक्त होने वाले 'अ' से 'ह' पर्यन्त सम्पूर्ण वर्ण समुदाय में मन्त्रत्व होता है। वर्ण किसी भी रूप या आकार में क्यों न हो वह 'अहं परामर्श' के द्वारा मन्त्रत्व को प्राप्त कर लेता है।

अकारादिक्षकारान्तशब्दराशिप्रथात्मनः।।
क्षित्यादिशिवपर्यन्ततत्त्वान्तःक्षोभकारिणः।
मन्त्रवीर्यस्य सर्वेषां मन्त्राणां प्राणरूपिणः।।
पराहन्तापरामर्शमयस्यानुभवः स्फुटम्।[१५]

तन्त्रशास्त्र की वह व्यापक दृष्टि इस प्रकार समग्र वाङ्मय को मुक्ति के उपाय के रूप में स्वीकार करती है। संगीत, साहित्य एवं अन्य कलाएँ भी चिति की द्रुति एवं विस्तार के कारण परमार्थ की साधक मानी गई है।

इस प्रकार मन्त्र के माध्यम से साधक को अपनी भौतिक देह में छिपी हुई असीम आत्मशक्ति की अनुभूति होती है। मन्त्र स्वयं तो करण रूप हैं। उन्हें जप अथवा साधना से प्रतिबुद्ध किए जाने पर ये साधक के चैतन्य से आविष्ट होकर उसी प्रकार कार्य करते हैं, जिस प्रकार विद्युत् उपकरण विद्युत्प्रवाह से संयुक्त होने के बाद अपने निश्चित कार्य को करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार साधक की चेतना से अभिन्न, विमर्शनपरक मन्त्र का लेखन सम्भव नहीं है। लिखित मन्त्र निर्वीर्य माने गए हैं—

लिपिस्थस्तु यो मन्त्रो निर्वीर्यः सोऽत्र कल्पितः।

न केवल लिपिस्थ अपि तु केवल वाचिक उच्चारण किया जाने वाला मन्त्र भी वास्तविक मन्त्र नहीं होता—

उच्चार्यमाणा ये मन्त्राः न मन्त्राश्चापि तद्विदुः।[१६]

यद्यपि लिखित मन्त्र निर्वीर्य होते हैं तथापि मन्त्रों की गोपनीयता एक आवश्यक शर्त है। इसका एक कारण जहाँ मन्त्रों का साधक की चेतना का अभिन्न अङ्ग होना है, वहीं, यह भय भी है कि विशिष्ट योग्यता वाले साधक, जिन्हें सांसिद्धिक संवित्[१७] कहा गया है, लिखित मन्त्र से भी उसकी शक्ति का आधान कर सकते हैं। गुरु भी शिष्य की योग्यता की परीक्षा करने के पश्चात् उसे दीक्षित करके मन्त्र प्रदान करता है, इस प्रक्रिया में वह अपनी विशिष्ट शक्ति को मन्त्र के माध्यम से शिष्य में संक्रमित करता है और मन्त्र ग्रहण के पश्चात् गुरु और शिष्य दोनों का एक साथ उस दिव्य चेतना से संयोग होता है।

शिवसूत्र (२.२) में मन्त्रोच्चार के स्वाभाविक प्रयत्न को ही साधक कहा गया है। "प्रयत्नः साधकः" इसकी व्याख्या में शिवसूत्रवृत्ति एवं वार्तिक में कहा गया है कि अनायास होने वाला प्रयत्न ही मन्त्रोच्चारणकर्ता का मन्त्र देवता से तादात्म्य स्थापित करता है इसीलिए उसे साधक कहा गया है।[१८]

इस प्रकार मन्त्र विचित्र वर्ण संरचना मात्र न होकर साधना की उच्चतर भूमि पर स्थित साधक का वह अवर्णनीय संवेदन है, जिसके माध्यम से उसे अपनी इस भौतिक नश्वर देह में छिपी असीम शक्ति/ऊर्जा की अनुभूति होती है और परम तत्त्व के परामर्शपूर्वक परम पद की प्राप्ति होती है। अभिनवगुप्त ने सामान्य साधकों के लिए मन्त्रों को उपदेश किया है जिससे उन्हें 'पूर्णाहंविमर्श' की सिद्धि हो सके। इस विमर्श की सामर्थ्य मन्त्र

के कलेवर में विद्यमान नहीं है, वे तो स्वयं करणरूप है, तथापि प्रतिबुद्ध किए जाने पर ये स्वतन्त्र, चित्स्वरूप, साधक के स्वातन्त्र्य से आविष्ट होकर कर्तृत्व को प्राप्त कर लेते हैं। साधक की शक्ति से ऊर्जित होकर मन्त्र उसी प्रकार कार्य-सम्पादन में समर्थ होते हैं, जिस प्रकार देहधारियों की इन्द्रियाँ उनके इच्छित कार्यों को करती हैं—

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्।।
तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः।
सहाराधकचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः।।[१९]

मन्त्र प्रकार

तन्त्रग्रन्थों में मन्त्रों के चार प्रकार माने गए हैं —**"बीजैः कूटैस्तथा पिण्डैर्मालामन्त्रैरशेषतः।"**[२०]

(१) बीजमन्त्र स्वररूप होते हैं एवं परावाक् के वाचक माने गए हैं।

(२) कूटमन्त्र पदात्मक एवं पिण्डस्वरूप होते हैं एवं पश्यन्ती वाक् के वाचक माने गए हैं।

(३) पिण्डमन्त्र नवात्मादि विशिष्ट देवताओं से सम्बन्धित होते हैं एवं मध्यमा वाणी के वाचक होते हैं।

(४) मालामन्त्र पद समुदायरूप होते हैं एवं वैखरी वाणी के वाचक माने गए हैं।

शारदातिलकतन्त्र के द्वितीय पटल में मन्त्रों के प्रकारों का विभिन्न आधारों पर निरूपण है—

(१) पुंमन्त्र स्त्रीमन्त्र एवं नपुंसकमन्त्र —मन्त्रों के इस विभाजन का आधार मन्त्रों के अन्त में प्रयुक्त पद बताया गया है। 'हुं', 'फट्' से अन्त होने वाले मन्त्र पुंमन्त्र, 'स्वाहान्त' स्त्री मन्त्र एवं 'नमः' से समाप्त होने वाले नपुंसक मन्त्र बताए गए हैं।[२१]

(२) सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध व शत्रुमन्त्र —साधक के नाम के आदि वर्ण एवं राशि चक्र में निर्दिष्ट वर्णों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के आधार पर मन्त्रों के सिद्धादि रूप होते हैं। सिद्धि मन्त्र बन्धुरूप, साध्य सेवकवत्, सुसिद्ध पुष्टिकारी एवं शत्रुमन्त्र अनिष्टकारी होते हैं।[२२]

(३) पिण्ड, कर्तरी, बीज, साधारण एवं माला मन्त्र —मन्त्रों के इस विभाजन का आधार उनमें प्रयुक्त वर्णसंख्या है।

एकाक्षर मन्त्र पिण्डमन्त्र, द्व्यक्षर मन्त्र कर्तरी, तीन से लेकर नौ वर्णों तक बीजमन्त्र एवं दस से बीस वर्णों वाले साधारण मन्त्र होते हैं। बीस से अधिक वर्णों वाले मालामन्त्र कहलाते हैं।[२३]

मन्त्रविनियोग

विनियोग के आधार पर मन्त्र ग्यारह प्रकार के होते हैं[२४]—

१. संपुट —प्रारम्भ एवं अन्त में संपुट की भांति मन्त्रन्यास।

२. ग्रथित —मन्त्र के प्रत्येक अर्ण के संपुटीकरण के द्वारा मन्त्र ग्रथित होता है।

३. ग्रस्त —मन्त्र का दिक्चतुष्टय (ऊपर, नीचे तिर्यक् व मध्य)में निवेश।

४. समस्त —मन्त्र के पश्चात् साध्य-नाम व पुनः मन्त्र प्रयोग करने पर मन्त्र समस्त होता है।

५. विदर्भित —साध्य नाम के पश्चात् एक बार मन्त्र का प्रयोग।

६. आक्रान्त —मध्य में स्थित साध्य नाम को आक्रान्त करके चारों ओर से ढक ले तो वह आक्रान्त मन्त्र होता है।

७. आद्यन्त —मन्त्र के पश्चात् साध्य नाम व पुनः तीन मन्त्रों का प्रयोग आद्यन्त मन्त्र में होता है।

८. गर्भस्थ —मध्यस्थ मन्त्र की चारों दिशाओं में साध्य नाम का न्यास करने पर गर्भस्थ की भांति आच्छादित मन्त्र गर्भस्थ कहलाता है।

९. सर्वतोवृत्त —मन्त्र के प्रारम्भ एवं अन्त में साध्य नाम का निवेश होने पर सर्वतोवृत्त मन्त्र होता है।

१०. युक्तिविदर्भ-पश्चान्न्यस्त मन्त्र के नाम का चारों ओर सन्निवेश करने पर मन्त्र युक्तिविदर्भ होता है।

११. विदर्भग्रथित —नाम के पश्चात् मन्त्र का तीन बार न्यास विदर्भग्रथित होता है।

मन्त्रदोष

मन्त्रों को गोपनीय रखने का एक प्रयोजन उन्हें शत्रु द्वारा उद्भावित किए जा सकने वाले निम्नलिखित दशविध दोषों से बचाना भी है[२५]—

१. कीलन —अन्य के समान बना देना।

२. भेदन —साध्य के साम्मुख्य का त्याग।

३. मोहन —निर्वीर्य बना देना।

४. सन्त्रास —भयभीत करने वाला बना देना।

५. ताड़न —पीड़ादायी बना देना।

६. जम्भन —कार्य करने में असामर्थ्य का आधान।

७. स्तम्भन —निश्चेष्ट कर देना।

८. रिपुत्वकरण —शत्रुरूप बना देना।

९. प्रत्यङ्गिरत्व—भूतादि के दमन के लिए प्रयुक्त मन्त्र को प्रयोक्ता के प्रति प्रेरित कर देना।

१०. सर्वहानिविधायकत्व —मन्त्र को सभी प्रकार की हानि करने वाला बना देना।

दोष परिहारक मन्त्रवाद

मन्त्रदोषों के परिहार के लिए निम्नलिखित प्रयोगविधि उपदिष्ट है[२६]—

१. दीपन —मन्त्र को प्रणव से युक्त करना।

२. बोधन —'नमः' शब्द से संयुक्त करना।

३. ताडन —फट्कार से संयुक्त करना।

४. अभिषेचन —वौषट्पूर्वक मन्त्र का प्रयोग करना।

५. विमलीकरण —स्वाहाकार का प्रयोग मन्त्र के साथ करना।

६. इन्धन निवेशन —दाह्यपाश विषादि दहन में विनियोज्य मन्त्र को 'हुं' से संपुटित करना अर्थात मन्त्र के प्रारम्भ और अन्त में 'हुं' का प्रयोग करना।

७. संतर्पण —मन्त्र में बलवत्ता का आधान करना (प्रत्येक वर्ण को लां कार से संपुटित करने के द्वारा)।

८. गुप्तिभाव —मन्त्ररक्षा (नेत्रनाथ से संपुटित करके अयुत जप करने से मन्त्र की रक्षा होती है)।

९. आप्यायन —जिसमें बल उत्पन्न हो गया है, उसमें पुनः (वां कार के द्वारा प्रतिवर्ण को संपुटित करके)पुष्टि का आधान।

इस नवधा मन्त्रवाद को जानने वाला ही सिद्धि के साधनों को अपने अधीन करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

मन्त्रों के ये संस्कार यत्किञ्चित् अन्तर के साथ *शारदातिलक* (२.११२-१२३)में भी निरूपित है। *तन्त्रालोक* एवं अन्य तान्त्रिक ग्रन्थों में निरूपित मन्त्र साधक की संवित् से अभिन्न होकर इच्छित फल प्रदान करने की सामर्थ्य रखते हैं।

मन्त्रों का लिखित संकेत यदि आवश्यक हो तो कूटाक्षरों के माध्यम से किया जाता है। *तन्त्रालोक* के ३०वें आह्निक में त्रिक, कुल और क्रम शाखाओं के आधार पर प्रमुख रूप से रतिशेखर, नवान्मदेव, भैरवसद्भाव, मातृकामालिनी आदि के मन्त्रों का संकेत किया है। इन मन्त्रों के आधार ग्रन्थों के रूप में अभिनवगुप्त ने श्रीयोग संचर, श्रीनिर्भयादिशास्त्र, श्रीमन्मालाशास्त्र, कुलगह्वर, सारशास्त्र, पौष्कर, मतङ्ग, श्रीपूर्वशास्त्र, श्रीगमशासन व मालिनी मत का एवं जयरथ ने त्रिशिरोभैरव देव्यायामल तथा श्रीपूर्वशास्त्र आदि आगम ग्रन्थों का प्रमाण के रूप में उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त *नेत्र तन्त्र, स्वच्छन्द तन्त्र, शारदातिलक* आदि आगम ग्रन्थों के आधार पर मन्त्रों का स्वरूप एवं प्रकार का निरूपण प्रस्तुत लेख में किया गया है।

सन्दर्भ

१. मन्त्राः वर्णभट्टारकाः लौकिकपारमेश्वरादिरूपाः
मननत्राणरूपाः विकल्पसंविन्मयाः। *परात्रिंशिकाविवृत्ति* पृ. ३८४
२. मन्त्रोऽपि अन्तर्गुम्फभाषणात्मकपरपरामर्शसतत्त्वेन
मननत्राणधर्मा परतत्त्वप्राप्त्युपायः परमेशात्मेव। *स्वच्छन्दतन्त्र*, उद्योत, ११.१३
३. *स्तवचिन्तामणि* विवृत्ति, ८४
४. ऋचो यजूंषि सामानि निगदा मन्त्राः। *कात्यायन श्रौतसूत्र* ३.१
५. *मीमांसासूत्र* १.२.१
६. विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः। *मीमांसासूत्र* १.२.७
७. अपौरुषेयं वाक्यं वेद। स च विधि-मन्त्र-नामधेयनिषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः। *अर्थसंग्रह* पृ. ४७
८. *परात्रिंशिका विवृत्ति*, पृ. ३८४
९. *महानिर्वाण तन्त्र*, २.१४
१०. चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्। *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* ५वां सूत्र
११. *शिवसूत्रविमर्शिनी* ३.१
१२. *तन्त्रालोक*, ३, २२३
१३. *विवेक*, ३, २२२ (पृ. ५६३)
१४. *तन्त्रालोक* ३.२२५
१५. *शिवसूत्र वार्तिक*, १-१०६-८
१६. *शिवसूत्र विमर्शिनी* २.१
१७. ये तु पुस्तकलब्धेऽपि मन्त्रे वीर्यं प्रजानते।
ते भैरवीयसंस्काराः प्रोक्ता सांसिद्धिका इति।। *तन्त्रालोक*
१८. (क) अकृतको यः प्रयत्नः, स एव साधको मन्त्रयितुर्मन्त्रदेवता तादात्म्यप्रदः।
(ख) प्रयत्नोऽन्तः स्वसंरम्भः स एव खलु साधकः।
यतो मन्त्रयितुर्मन्त्र देवतैक्यप्रदः स्मृतः।।
१९. *स्पन्दकारिका* ।। १-२
२०. *नेत्रतन्त्र* १६.७
२१. *शारदातिलक* २.५८-९
२२. *शारदातिलक* २.१३१
२३. *सौभाग्यभास्कर*
२४. *नेत्रतन्त्र* एवं उ. १६.१०-१२
२५. *नेत्रतन्त्र* १६.३३-४
२६. *नेत्रतन्त्र* १८.६-८

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

आभ्युदयिक कार्यों में पूजित षोडशमातृका एवं सप्तघृतमातृकाओं का आगमिक रूप

डॉ. पुष्पा त्रिपाठी

श्रौतस्मार्त कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करने वाले सनातन परम्परा के गृहस्थजन प्राय: अपने समस्त माङ्गलिग कार्यों में श्रीगणेशाम्बिकापूजन, कलशस्थापन, पुण्याहवाचन और तदनन्तर षोडशमातृका पूजन एवं सप्तघृतमातृकाओं के पूजनविधि का अनुक्रम पालते हैं। षोडशमातृकापूजन एवं सप्तघृतमातृका पूजन की स्मृत्यनुमोदित अपनी प्रचलित विधि है। अपने परमश्रद्धेय गुरचरणों में बैठकर मुझे भी आगम के गुरुमुखागत रहस्य में प्रवेश करने का परम भाग्य मिला। अपने घर के सम्पाद्यमान माङ्गलिक अनुष्ठानों में स्नानोपरान्त नित्यविधि का पालन करके यजमान पूज्य इष्टदेवता को प्रणाम कर पूर्वाभिमुख सपत्नीक बैठते हैं। उसके अनन्तर शान्तिपाठ और सङ्कल्प करते हैं। फिर विहित सङ्कल्प के अनुसार गणेश-पूजन, स्वस्तिपुण्याह वाचन, मातृकापूजन, नान्दीश्राद्ध तथा आचार्यादिवरण कर पूजनारम्भ करते हैं। षोडशमातृका पूजन में—१. गौरी, २. पद्मा, ३. शची, ४. मेधा, ५. सावित्री, ६. विजया, ७. जया, ८. देवसेना, ९. स्वधा, १०. स्वाहा, ११. मातर:, १२. लोकमातर:, १३. हृष्टि, १४. पुष्टि, १५. तुष्टि और १६. अपने कुलदेवता। इन नामों से आवाहनादि पूजन का विधान कर्मकाण्ड में प्रतिपादित है। तदनन्तर घृतधारा से सप्तघृतमातृकाओं का आवाहनादि पूजन क्रिया सम्पादित होती है। सप्तघृतमातृकाओं का नामस्मरण इस प्रकार है—

श्रीश्च लक्ष्मीधृतिर्मेधा पुष्टि: श्रद्धा सरस्वती।
माङ्गल्येषु प्रपूज्यन्ते सप्तैता: घृतमातर:।।

षोडश मातृकाओं की स्थापना के लिए पूजनकर्ता ५ खड़ी रेखाओं तथा ५ पड़ी रेखाओं का चौकोर मण्डल बनाता है। इस प्रकार कुल १६ कोष्ठक बन जाते हैं। प्रत्येक कोष्ठक में पश्चिम से पूर्व की ओर मातृकाओं का आवाहन एवं स्थापन किया जाता है। प्रत्येक कोष्ठक में रक्तचावल, गेहूँ या जौ रखा जाता है। प्रथम कोष्ठक में गौरी के आवाहन के पूर्व गणेश का आवाहन भी उसी में पुष्पाक्षतों के द्वारा होता है और क्रमश: सोलहों कोष्टकों में आवाहनादि पूजनों की विधि सम्पादित की जाती है।

षोडश मातृकाओं का चित्र अग्रांकित प्रकार से बनाया जाता है। वह इस प्रकार है—

षोडशमातृकाचक्र

पूर्व

उत्तर	१६. आत्मनः कुलदेवता	१०. लोकमातरः	८. देवसेना	४. मेधा	दक्षिण
	१५. तुष्टिः	११. मातरः	७. जया	३. शची	
	१४. पुष्टिः	१०. स्वाहा	६. विजया	२. पद्मा	
	१३. हृष्टि	९. स्वधा	५. सावित्री	१. गौरी गणेशः	

पश्चिम

इन उपरिलिखित कोष्ठकों में पश्चिम से आरम्भ करके पूर्व की ओर कोष्ठक में लिखित नामों से उच्चारणपूर्वक आवाहन एवं पूजन की विधि सम्पादित की जाती है। पूजन के बाद—

गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः।।
धृतिः पुष्टिस्तथा तुष्टिरात्मनः कुलदेवताः।
गणेशेनाधिकाः ह्येता वृद्धौ पूज्याश्च षोडशः।।

का उच्चारण करते हुए उन कोष्ठकों पर अक्षत डालकर नमस्कारपूर्वक पूजनविधि सम्पादित करने का विधान कर्मकाण्ड में वर्णित मिलता है।

इसके अनन्तर सप्तघृतमातृकाओं की पूजनविधि अनुष्ठित की जाती है। इस हेतु आग्नेय कोण में किसी वेदी अथवा काष्ठ पीठ पर प्रादेश मात्र स्थान में रोली अथवा सिन्दूर से स्वस्तिक बनाकर ।।श्रीः।। लिखा जाता है। पुनः इसके नीचे एक बिन्दु, उसके नीचे दो बिन्दु, फिर इसी प्रकार सात बिन्दु बनाये जाते हैं, जिनका चित्राङ्कन अग्रलिखित प्रकार से किया जाता है—

पूर्वस्वस्तिक

।।श्री।।

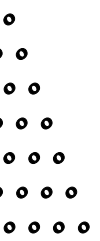

सप्तघृतमातृकाओं का नाम क्रमश: इस प्रकार है–

१. श्री:, २. लक्ष्मी:, ३. धृति:, ४. मेधा, ५. पुष्टि, ६. श्रद्धा, तथा ७ सरस्वती। इनको कर्मकाण्ड में वसोर्धारा देवता कहा जाता है। इन्हें ही सप्तघृतमातृका भी कहा जाता है। पूजनानन्तर हाथ जोड़कर निम्नलिखित मन्त्र पढ़कर प्रार्थना की जाती है—

यदङ्गत्वेन भो देव्य: पूजिता विधिमार्गत:।
कुर्वन्तु कार्यमखिलं निर्विघ्नेन क्रतूद्भवम्।।

"अनया पूजाया वसोर्धारा देवता: प्रीयन्ताम् न मम" उच्चारण करते हुए उस मण्डल पर अक्षत डालकर पूजन सम्पन्न किया जाता है।

मार्कण्डेय पुराण में सप्तघृतमातृकाओं के पूजन विधि का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

कर्मादिषु तु सर्वेषु मातर: सगणाधिपा:।
पूजनीया: प्रयत्नेन पूजिता: पूजयन्ति ता:।।
प्रतिमासु च शुभ्रासु लिखित्वा पटादिषु।
अपि वाऽक्षतपुञ्जेषु नैवेद्यैश्च पृथग् विधै:।।
कुड्यलग्नां वसोर्धारां सप्तधारां घृतेन तु।
कारयेत्पञ्चधारां वा नातिनीचां न चोच्छ्रिताम्।।
अनिष्ट्वा तु पितॄन् श्राद्धे न कुर्यात्कर्मवैदिकम्।
तत्रापि मातर: पूर्वं पूजनीया: प्रयत्नत:।। — *मार्कण्डेयपुराण, ८८.११.२० एवं ३३*

तन्त्रशास्त्र की मान्यता के अनुसार वाचक पक्ष में विश्व का उन्मेष मातृका के रूप में तथा वाच्य पक्ष में षट्त्रिंशत् तत्त्व के रूप में होता है, वस्तुत: कहने में दोनों भिन्न लगते हैं पर वास्तव में दोनों एक ही हैं। संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास ने इन्हीं की चर्चा करते हुए संसार के माता-पिता के रूप में इनकी वन्दना की है। उनका प्रसिद्ध श्लोक है—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।

महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इन्हीं तत्त्वों की वन्दना करते हुए रामचरित मानस में लिखा है–

गिरा अरथ जलवीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
वन्दौं सीतारामपद जिनहि परमप्रिय खिन्न।।

प्रत्येक वर्ण मन्त्र तथा शक्ति होने के नाते मातृका पद से व्यवहृत होता है। यह विमर्शशक्ति माता का अवछिन्न अवभास है। *श्रीतन्त्र* सद्भाव के अनुसार—

सर्वे वर्णात्मका मन्त्राः ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका।।

और भी तन्त्रशास्त्र में मातृकास्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है, जैसे—

या सा तु मातृका लोके परतेजः समन्विता।
तया व्याप्तमिदं सर्वमाब्रह्मभुवनान्तरम्।।

आगम तथा तन्त्र के सन्दर्भ में *मास्वच्छन्द* में उल्लेख मिलता है—

आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागमुच्यते।।
गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्।।

अर्थात् भगवान् शिव के मुखारविन्द से निःसृत होकर यह उपदेश भगवती के कानों में प्रविष्ट हुआ। ये भगवान् वासुदेव को भी स्वीकार्य होने के कारण इसे आगम कहा जाता है। वस्तुतः स्वयं भगवान् सदाशिव ही गुरुशिष्य के रूप में स्वयं कृपापूर्वक प्रश्नोत्तर के रूप में तन्त्रशास्त्र की अवतारणा करते हैं। दोनों का परस्पर कभी भेद नहीं होता। *कामकलाविलास* के अनुसार दोनों की एकता इस प्रकार पंक्तियों में प्रतिपादित हुई है–

शिवशक्तिरिति ह्येकं तत्त्वमाहुर्मनीषिणः।

मातृकाचक्रविवेक में भी कहा गया है—

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किञ्चिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।।

ललितासहस्रनाम में कहा गया है—"मातृकां वर्णरूपिणीम्" *स्वच्छन्दतन्त्र* में कहा गया है—"न विद्यामातृका परा।"

मातृकाओं की संख्या ५० है किन्तु भास्करराय महाशय ने *ललितासहस्रनाम* में आये 'पञ्चाशत्पीठरूपिणी' पद की व्याख्या करते हुए उन पीठों को ५१ उपलक्षण माना है। ये सभी वर्णरूप हैं। इसीलिए वर्णमाला को स्थूलमातृका कहते हैं। मध्यमावाणी सूक्ष्ममातृका है, परा और पश्यन्ती इन दोनों अवस्थाओं को सुसूक्ष्म मातृका के नाम से अभिहित किया गया है।

वामकेश्वर तन्त्र के अनुसार भगवती को पीठरूपिणी के नाम से अभिहित करते हुए कहा गया है—

गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीराशिरूपिणीम्।
देवीं मन्त्रमयीं नौमिं मातृकां पीठरूपिणीम्।।

वरिवस्यारहस्य के पृ. सं. १७ के अनुसार, "वटबीजान्तर्गतवटवृक्षीयसूक्ष्मरूपतुल्यशब्दसृष्टि-सूक्ष्मरूपशालिनी पूर्वोक्तरूपा त्रिपुरसुन्दर्येव तादृशसूक्ष्मरूपवत्वप्रवृत्तिनिमित्तकपरापदवाच्या। सैव च माति तरति कायति इति व्युत्पत्या मातृकेत्युच्यते।"

तन्त्रागम के अनुसार इन मातृकाओं का स्वरूप इस प्रकार है—'अ' से लेक 'क्ष' पर्यन्त समस्तवर्ण अमृतमय होने के कारण अत्यन्त निर्मल हैं। कहा जाता है कि द्वादशान्त अर्थात् आज्ञाचक्र के ऊपर ललाटदेश में स्थित अर्धचन्द्र से जो अमृतबिन्दु क्षरित होते हैं वे ही मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि छः कमलदलों में आकर वर्णों के रूप में परिणत हो जाते हैं।

लक्ष्मीधर ने *सुभगोदय* की व्याख्या चन्द्रकला में वर्णों के रङ्गों, वर्णरूपों का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने *सनत्कुमार संहिता* के एतत् सम्बन्धी वर्णन को ही मान्यता दी है। प्रत्येक वर्ण पञ्चभूतों, त्रिदेवों एवं प्राणादि से सङ्घटित होता है अतः उसकी नील पीतादि वर्णरूपता भी स्वतः सिद्ध है। मातृकाओं के वर्णरूपों के सम्बन्ध में अनेक मत है।

सनत्कुमार संहिता के अनुसार अकारादि स्वरों का वर्ण (रङ्ग) धूम्र है। 'क' से लेकर 'म' तक सभी वर्ण सिन्दूराभ हैं। 'ड' से 'फ' तक वर्णों का रङ्ग गौर है तथा पाँच 'ब' आदि अरुणवर्ण तथा लकारादि पाँच स्वर्ण वर्ण हैं। 'ह' और 'क्ष' से तड़ित वर्ण हैं।

तन्त्रान्तर में स्वरों को स्फटिकाभ, स्पर्श वर्णों को विद्रुम सदृश, यकारादि नव वर्णों को पीत और शकार को अरुण कहा गया है। कहीं सम्पूर्ण वर्णों को श्वेत कहा गया है। *मातृकाविवेक* नामक ग्रन्थ में प्रत्येक वर्ण का पृथक्-पृथक् वर्ण बताया गया है। जैसे—'अकारं सर्वदेवत्यं रक्तं सर्ववशङ्करम्।' (*सौभाग्य रत्नाकर*, पृ. १२५)

कामधेनुतन्त्र में भी वर्णों के स्वरूप की चर्चा करते हुए रङ्गों का उल्लेख मिलता है। उसी के आधार पर वर्णों के तात्त्विकरूप का वर्णन किया गया है—

अ – शरच्चन्द्रसदृश, पञ्चकोणमय, पञ्चदेवमय, शक्तित्रययुक्त, निर्गुण, त्रिगुणोपेत, कैवल्यमूर्ति, विन्दुतत्त्वमय प्रकृति स्वरूप।

आ – शङ्खज्योतिर्मय, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रमय, पञ्चप्राणमय तथा परम कुण्डलीरूप।

इ – कुसुमच्छवि, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रमय, सदाशक्तिमय, गुरुब्रह्ममय, सदाशिवमय, गुणत्रयसमन्वित, मूर्तिमान् कुण्डली।

ई – पीतविद्युत् के सदृश आकृतियुक्त, परमकुण्डलीरूप, ब्रह्माविष्णु और रुद्रमय पञ्चदेव, पञ्चप्राण तथा चतुर्ज्ञानमय।

उ – पीतचम्पकसदृश, अधः कुण्डलिनी, पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणमय, चतुर्वर्गप्रद।

ऊ – शङ्ख और कुन्द के सदृश आकारयुक्त, परमकुण्डली, पञ्चप्राण तथा पञ्चदेवमय, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और सदासुखप्रद।

ऋ – मूर्तिमान् कुण्डली, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रमय, सदाशिवयुक्त, ईश्वर–संयुक्त पञ्चवर्ण तथा चतुर्ज्ञानमय, रक्तविद्युत् सदृश।

ॠ – परमकुण्डली, पीतविद्युत् सदृश पञ्चदेव, चतुर्ज्ञानमय, पञ्चप्राणयुक्त, त्रिशक्तिसहित।

ऌ – पीतविद्युतसहित, कुण्डली परमदेवता, ब्रह्मादिदेवों का स्थान, पञ्चदेव, चतुर्ज्ञान तथा पञ्चप्राणमय, गुणत्रयात्मक, बिन्दुत्रयात्मक।

ए – रञ्जनीकुसुमसदृश, ब्रह्मा–विष्णु–शिवात्मक, पञ्चदेवमय, प्राणात्मक, बिन्दुत्रयात्मक चतुर्वर्गप्रद, परमकुण्डली।

ऐ – कोटिचन्द्रसदृश, महाकुण्डलिनी, पञ्चप्राण, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रमय। सदाशिवमय, बिन्दुत्रययुक्त।

ओ – रक्तविद्युत्सदृश, पञ्चदेवमय, त्रिगुणात्मा, ईश्वर, पञ्चप्राणमय, देवमाता, परमकुण्डली।

औ – रक्तविद्युत्सदृश, कुण्डली, ब्रह्मादि देवों का निवास, पञ्चप्राणमय तथा सदाशिवमय, ईश्वर संयुक्त, चतुर्वर्गप्रद।

अं – पीतविद्युत्सदृश, पञ्चप्राणात्मक, ब्रह्मादिदेव तथा सर्वज्ञानमय, बिन्दुत्रयसमन्वित।

अः – रक्तविद्युत्कान्ति, पञ्चदेव, पञ्चप्राण तथा सर्वज्ञानमय, आत्मादि तत्त्वों से युक्त, बिन्दुत्रय, शक्तित्रयात्मक।

शारदातिलकतन्त्र की पदार्थादर्श में तन्त्रान्तर से उद्धृत वर्णों की मूर्ति और महिमा—

अ – स्वर्णवर्ण, आठभुजाओं में शूल और गदा लिए हुए, चतुर्मुख अतिकाय, कूर्मवाहन।

आ – श्वेतवर्ण, पाशाङ्कुशहस्त, कमलासन, हस्तिवाहन, मौक्तिकभूषण, षष्ट्यूर्ध्वयोजनशरीर।

इ – पीतवर्ण, वज्र, परशु, कमलधारी, कच्छपवाहन, योजनत्रयमित-शरीर।

ई – श्वेत, पुष्टिप्रद, मौक्तिकभूषण, दशयोजनदीर्घ, हंसवाहन।

उ, ऊ – कृष्णभूषण, गदाङ्गकुशधारी, काकवाहन, द्विसहस्र-योजन-दीर्घ।

ऋ, ॠ – रक्तवर्ण, पाशशक्तिधारी, अग्निबिम्बस्थित-उष्ट्रवाहन, उक्तप्रमाण, कालघ्न।

ऌ, ॡ – पुष्परागवर्ण, कमलासन, हंसवाहन, पाशवज्रधर, रौद्ररूप।

ए – श्यामवर्ण, चक्रवाकवाहन, हारभूषण।

ऐ – नवकुन्दवर्ण, शूलवज्रधारिणी, द्विपवाहन, कविताकरी, कोटियोजनशरीर।

ओ – पीतवर्ण, चिन्मय, सर्वगत-शान्त, द्विसहस्र-करोज्ज्वल, वृषवाहन।

औ – तप्तकाञ्चनवर्ण, पाशचक्रधारिणी, विभूतिप्रद, योजनासहस्रदीर्घ।

अं – नवकुङ्कुमवर्ण, पद्मस्थ, रक्तभूषण, चतुर्भुज, रिपुनाशक, श्रीकर।

अः – वज्रशूलधारी, खरवाहन, द्विभुज, सहस्रयोजनमिति।

सोलह स्वरों से उतनी ही चन्द्रकलायें उत्पन्न होती हैं—

अ – अमृताकला

आ – मानदाकला

इ – पूषाकला

ई – तुष्टिकला

उ – पुष्टिकला

ऊ – रतिकला

ऋ – धृतिकला

ॠ – शशिनीकला

ऌ – चन्द्रिकाकला

ॡ – कान्तिकला

ए – ज्योत्स्नाकला

ऐ – श्रीकला

ओ – प्रीतिकला

औ – अङ्गदाकला

अं – पूर्णाकला

अः – पूर्णामृताकला

शारदातिलक के पदार्थादर्श टीका, षष्ठपटल के पृ. सं. ३८१ में इन वर्णों के ऋषि और छन्द का उल्लेख किया गया है—

वर्ण	ऋषि	छन्द
अ, आ	अजुन्यायन	मध्या
इ, ई	भार्गव	प्रतिष्ठा
उ, ऊ, ऋ	अग्निवेश्य	सुप्रतिष्ठा
ऋ, ऌ, ॡ, ए	गौतम	गायत्री
ऐ, ओ	लौहित्यायन	अनुष्टुप्
औ, अं	वशिष्ठ	वृहती
अः	माण्डव्य	दण्डक

'क' से लेकर 'श' तक सप्तवर्गों द्वारा सप्तमातृकाओं की पूजा की जाती है। ये शक्तियाँ तत्तद्वर्गों की अधिष्ठातृ देवता हैं जो सप्तमातृका के नाम से प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः उमादेवी जो भगवान् की शरीरार्द्ध हैं, आठवीं देवी हैं। वे ही सात रूपों में अपने को विभक्त करती हैं—

अवर्गे तु महालक्ष्मीः कवर्गे कमलोद्भवा।।
चवर्गे तु महेशानी टवर्गे तु कुमारिका।
नारायणी तवर्गे तु वाराही तु पवर्गिका।।
ऐन्द्री चैव यवर्गस्था चामुण्डा तु शवर्गिका।
एताः सप्तमहामातृः सप्तलोकव्यवस्थिताः।। (*स्वच्छन्दोद्योत*, १ पटल, ३४-३६)

१.	अवर्ग	महालक्ष्मी
२.	कवर्ग	ब्राह्मी–१
३.	चवर्ग	माहेश्वरी–२
४.	टवर्ग	कौमारी–३
५.	तवर्ग	वैष्णवी–४
६.	पवर्ग	वाराही–५
७.	यवर्ग	ऐन्द्री–६
८.	शवर्ग	चामुण्डा–७

स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है कि महेश्वर सप्तमातृकाओं से परिवारित परा लक्ष्मी के साथ विद्यमान रहते हैं—

उमैव सप्तधा भूत्वा नामरूपविपर्ययैः।
एवं स भगवान् देवो मातृभिः द्योतयअगत्।। (*स्वच्छन्दोद्योत*, १०, १०२९-१०३०)

सप्तमातृकाओं के स्वरूप का वर्णन *स्वच्छन्दतन्त्र* में निम्नाङ्कित रूप से किया गया है—

१. ब्राह्मी—कमलपत्र के समान कान्ति, दिव्यआभरणों से अलङ्कृत। दिशा—आग्नेयी।

२. माहेश्वरी—शङ्ख और गोदुग्ध के सदृशकान्ति, महातेजस्विनी।

३. कौमारी—पद्मगर्भ सदृश कान्ति, हार, केयूर से अलङ्कृत। दिशा—उत्तर।

४. वैष्णवी—स्निग्ध नीलोत्पल सदृश कान्ति, हार और कुण्डलों से मण्डित। दिशा—दक्षिण।

५. वाराही—नील नीरद सदृशकान्ति, सम्पूर्ण आभरणों से आभूषित। दिशा—वारुणी।

६. इन्द्राणी—शङ्ख, कुन्द और इन्दु के सदृश धवलहार और कुण्डलों से आभूषित। दिशा—ऐन्द्रि।

७. चामुण्डा—प्रदीप्त, करालवदना। दिशा—नैर्ऋत्य।

महालक्ष्मी को पृथक् मानकर प्रायः अष्टमातृकाओं का उल्लेख किया जाता है—

ब्रह्माणी माहेशी कौमारी वैष्णवी च वाराही।
इन्द्राणी चामुण्डा सहलक्ष्मीश्च मातरः प्रोक्ताः।। (*प्रपञ्चसार*, सप्तपटल)

शास्त्र दुरवगाह होते हैं, उसमें भी तन्त्र तो गुरुमुखैकबोध्य हैं। अपनी अल्पविषयामति के सहारे इसमें थाह लगाने की चेष्टा तो मेरी जैसी बुद्धि के लिए उपहासास्पद हो सकती है किन्तु इस पथ के मर्मवेत्ता विद्वानों की दिखाई आलोक सरणि के सहारे वज्र समुत्कीर्ण मणि में सूत्र की भाँति मेरी गति सम्भव हुई है।

प्रस्तुत इस आलेख की प्रस्तुति में मुझे डॉ. शिवशङ्कर अवस्थी के शोध प्रबन्ध *मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य* पुस्तक से बहुत सहायता मिली। एतदर्थ उनके प्रति आभार न ज्ञापित करूँ मेरी कृतघ्नता ही होगी। गोस्वामीजी के इस दोहे की सङ्गति मेरे साथ बिल्कुल ठीक बैठती है—

अति अगाध जे सरित बड़ जौ नृप सेतु कराहि।
चढ़ि पिपीलिकौ परमलघु बिनु श्रम पारहिं जाहि।।

तन्त्रशास्त्र में प्रवेश पाना ऐसे भी परम कठिन है किन्तु इस सामर्थ्य का सम्पादन तन्त्रशास्त्र के पारग परमाचार्य, पुण्यश्लोक, अपने दीक्षा गुरु परमपूज्य श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ महाराज के श्री चरणों में बैठकर जो कुछ सीखा, जो कुछ जाना उससे ही यह प्रवृत्ति उत्पन्न हुई, इसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है। उनके चरणों में साष्टाङ्ग प्रणति निवेदित करके ही मैं उस ऋण से उऋण होने का निष्फल प्रयास कर रही हूँ। इतना तो निश्चित ही है कि यदि सौभाग्य से उनकी प्रत्यक्ष उपस्थिति होती तो मुझे उनके मुखाम्बुज पर व्याप्त सस्मित प्रसन्नता के भाव का सुख देखने का अवसर अवश्य प्राप्त होता।

बड़े सन्तोष का विषय है कि उसी सरणि के उस पीठ का उत्तराधिकारी तन्त्रशास्त्र के परम साधक हम लोगों के परूपूज्य प्रकाशानन्दजी महाराज इस सन्दर्भ में निरन्तर मार्गदर्शन करते हुए प्रोत्साहित करते रहते हैं। इस आलेख की प्रस्तुति में यदि उनका स्नेहपूर्ण प्रोत्साहन और परमवात्सल्यमय उपालम्भ न होता तो घर परिवार की व्यस्तताओं और अपनी व्यावसायिक प्रतिबध्यताओं के चक्रव्यूह से निकलकर यह प्रस्तुत कर पाना सम्भव न होता। महाराज जी के चरणों की शरण पाकर मेरी भी यही गति हो गयी—गोस्वामीजी ने कहा है— **गगन चढई रज पवन प्रसङ्ग।**

सङ्गति का लाभ पाकर व्यक्ति में सामर्थ्य का उद्भव हो जाता है। मेरा यह प्रयास पूर्वाचार्यों से प्राप्त आलोक और उपदेश के अवलोकन की परिणति है। इसलिए विद्वज्जन से त्रुटियों के लिए उनके मार्गदर्शन की अपेक्षा अवश्य करती हूँ।

सहायक प्रोफेसर,
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज,
चेतगंज, वाराणसी।

तन्त्रागमीय नृसिंहोपासना

डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

भारतीय धर्म, दर्शन संस्कृति तथा साधना के अनादि स्रोतद्वय हैं—निगम और आगम। शास्त्रकारों की व्याख्या और उनके प्रवचनों से उद्घाटित होता है कि निगम पद का तात्पर्य समस्त वैदिक वाङ्मय में और आगम पद का तात्पर्य सम्पूर्ण तान्त्रिक वाङ्मय में निहित है। भगवान् व्यास का अभिमत है कि "श्रुति-निर्दिष्ट प्रमाणों का विचार और आगमशास्त्र में प्रतिपादित मङ्गलमय साधनों के अनुष्ठान द्वारा मनुष्य जरा-मृत्यु के भय से रहित होकर सुख से सोता है। वस्तुत: निगम सिद्धान्त पक्ष है तो आगम उसका क्रियात्मक पक्ष।"[1]

आगमों की एक विशेषता यह है कि वे इस लोक में अभ्युदय एवं सुख की प्राप्ति कराते हुए नि:श्रेयस के मार्ग को प्रशस्त करते हैं।[2] आगमों ने भोग का उदात्तीकरण कर उसे मोक्ष का उपाय बनाया। आगमों में सभी व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक समस्याओं के समाधान का बीज विद्यमान है। अनुभव आधारित होने के कारण यह विज्ञान है। ऐन्द्रिक ज्ञान के अतिरिक्त आगमों ने दिव्य ज्ञान की सम्भावना को भी स्वीकार किया है, यही मनुष्य का तृतीय नेत्र है जिसके खुलने पर तुच्छ लौकिक ऐषणाओं की गर्हता भस्मीभूत हो जाती है, वे नि:श्रेयस के साधन बन जाते हैं। निष्कर्ष रूप में आगम पारम्पर्य प्राप्त ज्ञान है, जो गुरु-शिष्य पद से चला आया है।[3] इन सबका आदिस्रोत प्रतिभा अथवा पराशक्ति का विमर्श है।[4]

आगम साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। उनके दो प्रधान भेद हैं—१. वेदानुकूल या वेद के अविरुद्ध तथा २. वेद बाह्य। कुछ आगमों एवं उनके आचारों का मूल स्रोत वेदों से प्रवाहित होता है। समायाचार की इन्हीं में गणना है। वामाचार एवं कौलाचार आदि को अवैदिक कहा जाता है। उपास्य देवता के आधार पर आगमों का विभाजन वैष्णवागम, शैवागम, शाक्तागम, स्कान्दागम, गाणपत्यागम तथा सौरागम के रूप में भी हुआ है। बौद्धागम तथा जैनागम का भी प्रामाणिक साहित्य उपलब्ध है। ज्ञान, योग, क्रिया तथा चर्यायें इनके प्रधान प्रतिपाद्य विषय हैं।

वैष्णवागम के वैखानस एवं पाञ्चरात्र दो भेद हैं। इनमें पाञ्चरात्र की प्रसिद्धि एवं प्रचलन अधिक है। वैखानसागम को वैदिक तथा पाञ्चरात्र को तान्त्रिक माना गया है। इन दोनों को क्रमश: सौम्य तथा आग्नेय भी कहा गया है।[5] इन आगमों के अनुशीलन से सपष्ट हो जाता है कि वैखानस आगमों का पूर्व वैदिकत्व तथा पाञ्चरात्र आगमों का अंशत: वैदिकत्व स्वयं सिद्ध है। वैखानस वैष्णव-ग्रन्थ अपने साथ आगम पद का प्रयोग न करके 'भगवच्छास्त्र' के नाम से उल्लेख करते हैं।[6] वैखानस विधान से तिरुपति के बालाजी मन्दिर में आज

भी आराधना होती है। वैखानस मतावलम्बी प्राय: आन्ध्रप्रदेश में रहते हैं। वैखानस ग्रन्थों का प्रकाशन भी प्राय: तिरुपति से ही हुआ है। एकादश भागों में वैखानसागमकोष प्रणयन राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति से सद्य: प्रकाशित किया गया है।[7]

एकायनवेद से समुद्भूत पाञ्चरात्रागम का विपुल साहित्य आज उपलब है। *'पेनारोमा ऑफ पाञ्चरात्र लिटरेचर'* सद्य: मद्रास से प्रकाशित हुआ है जिसमें १०४ संहिताओं का विस्तृत विवरण के साथ लगभग ३०० संहिताओं की नामावली भी दी गई है।[8] तमिलनाडु में पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के देवालय तथा अनुयायी वर्तमान में विशेष रूप से पाये जाते हैं।

उत्तरभारत में उद्गीथ तथा दक्षिण भारत में प्रवर्द्धमान इस महती वैष्णव परम्परा (वैखानस तथा पाञ्चरात्र) के अधिष्ठातृ देवता नारायण हैं। नारायण (परब्रह्म) भक्तों पर अनुग्रह के लिए अनुकम्पापूर्वक पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार स्वरूपों को स्वीकारते हैं।[9] व्यूह एवं विभव वैष्णव आगम का अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त है। नृसिंह का सम्बन्ध इन्हीं सिद्धान्तों से है। वैष्णवागम में नृसिंह के दिव्य मूर्तिमन्त्र के अतिरिक्त नृसिंहानुचर मूर्तियों के ध्यान-प्रकार, नृसिंह के शक्ति मन्त्र, नृसिंह के शक्तियों के ध्यान प्रकार तथा नृसिंह मन्त्र से होने वाले सामर्थ्यों का भी वर्णन मिलता है।[10] नृ-हरि मूर्ति के मूल बिम्ब प्रमाण वर्णित हैं। संहिताओं में मूर्ति लक्षण तथा उनके भेद, मूर्ति प्रतिष्ठा विधि आदि का विवेचन किया गया है। नृसिंह देवालय का लक्षण-निर्माण स्वरूप प्राप्त होता है। नृसिंहोत्सव, नृसिंह जयन्ती, नृसिंहोपासना विधि बतायी गयी है।

व्यूह शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'ऊह' धातु से निष्पन्न है। 'ऊह' का अभिप्राय है किसी सिद्धान्त का उपयुक्त स्थानों का प्रयोग करना, अत: 'विशेषेण ऊह्यते विधीयत इति व्यूह:' प्रस्तुत सन्दर्भ में किसी विशेष सत्ता से सम्पूर्ण संसार की अभिव्यक्ति परिलक्षित है।[11] कश्मीर शैवागम के अनुसार भगवान् का सर्वथा स्वातन्त्र्य है, वे अपनी इच्छा से प्रवृत्त होते हैं। अलङ्कारतन्त्रप्रजापति श्रीमत् आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक ग्रन्थ में नृसिंह महिमा के प्रदर्शन प्रसङ्ग में मङ्गलाचरण करते हुए कहा है—

स्वेच्छाकेसिरण: स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दव:।
त्रायन्तां वो मधुरिपो: प्रापन्नार्तिच्छिदोनखा:।।[12]

विष्णु ने नृसिंह मूर्ति धारण स्वयं अपने स्वातन्त्र्य शक्ति से धारण किया। इसमें किसी का नियोग नहीं था। परमेश्वर का सभी कार्यों में स्वातन्त्र्य विद्यमान है। इसका विवरण अशेषागमोपनिषदालोक के रचनाकार महामहेश्वराचार्य श्री अभिनवगुप्तपाद ने लोचन टीका में लिखा है—

"करणत्वात्सातिशयशक्तिता कर्त्तृत्वेन सूचिता, ध्वनितश्च परमेश्वरस्य व्यतिरिक्तकणापेक्षाविरह:, मधुरिपोरित्यनेन तस्य सदैव जगत्त्रासापसारणोद्यम उक्त:, कीदृशस्य मधुरिपो:? स्वेच्छया केसरिण:, न तु कर्मपारतन्त्र्येण, नाप्यन्यदीयेच्छया, अपि तु विशिष्टदानवहननोचिततथाविधेच्छा परिग्रहौचित्यादेव

स्वीकृतसिंहरूपस्येत्यर्थः, कीदृशा नखाः? प्रपन्ननामार्त्तिं ये छिन्दन्ति, नखानां हि छेदकत्वमुचितम्, आर्तेः पुनश्छेद्यत्वं नखान् प्रत्यसम्भावानीयमपि तदीयानां नखानां स्वेच्छनिर्माणौचित्यत्सम्भाव्यत एवेति भावः।"[13]

भगवान् नृसिंह की स्वातन्त्र्य शक्ति का नाम 'नारसिंही' है। यद्यपि की पाञ्चरात्र आगम की एकमात्र संहिता *सङ्कर्षण संहिता* में ही 'नारसिंही' का उल्लेख है—

नारसिंही मही (हि?) षीश्च धर्ता क्रोडे नृकेसरी।
भक्तानां रक्षकः सम्यग् भीषणो भीतिहृत् प्रभुः।। — *ज्ञानरात्रे ४/८१*

तथापि *दुर्गासप्तशती* में निर्दिष्ट है—

नारसिंही नृसिंहस्य बिभ्रती सदृशः वपुः।
प्राप्ता तत्र सटाक्षेपक्षिप्तनक्षत्रसंहतिः।। ८/२०

भगवान् का प्रह्लाद की भावना से प्राकट्य हुआ—

सहे सुरन्ह बड काल विषादू।
नरहरि प्रकट कीन्ह प्रह्लादू।।

नृसिंह-विभव का विवेचन—

"विभवो नाम तत्तत्सजातीयरूपेणाविर्भावः।"[14] अर्थात् विभव-रूप में परमात्मा देव-मनुष्यादि के सजातीय रूप में अवतीर्ण होते हैं। आगमानुयायी एक ही अविकृत 'परसत्ता' मानते हैं। आगम संहिताओं के अनुसार परसत्ता अपना स्वरूप स्थिर रखते हुए अवतीर्ण होती है, जबकि पुराणों के अनुसार भगवदंश ही अवतरित होते हैं। यही दोनों में अन्तर है। परसत्ता द्रष्टा, साक्षी तथा उदासीन है, उसे जागतिक प्रपञ्च से कुछ लेना-देना नहीं है। अतः अवतार का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। महाभाग भृगु कहते हैं—

तृतीयं विभावाढयं तु विश्वमन्तरमध्यमम्।
नानाकारक्रियाकर्त्तृरूपं वक्ष्ये महात्मनः।
विभवा मत्स्यकूर्माद्या हयग्रीवादयोमताः।।[15]

अर्थात् सम्पूर्ण विश्व ही विभव का रूप है। नानाकार, विविध क्रिया, नानाकर्त्ता रूप, मत्स्य, कूर्मादि तथा हयग्रीवादि विभव रूप ही हैं। भगवदावतार का प्रयोजन भी प्रतिपादित है—

अवताराश्च कीर्त्यन्ते भूयांसः परमात्मनः।
धर्मसंरक्षणार्थाय दुष्टसंशिक्षणाय च।।[16]

शिष्ट-रक्षण और दुष्ट-शिक्षण के द्वारा धर्म संस्थापन का कार्य परमात्मा के अवतार का हेतु है। काश्यप ज्ञानकाण्ड में भी 'यदा ग्लानिर्धर्मस्य परिपालनाय नारायणाद् भगवतः प्रत्यंशरूपाणि युगे-युगे प्रजातानि भवन्ति, तानि रूपाणि संस्थापनार्चयेत्।'[17] 'मत्स्य-कूर्म-वराह-नरसिंह-वामन-जामदग्न्य-राघव-बलभद्र-

कृष्ण कल्किन् इति'[18] दशावतारों का स्वरूप *वैखानस संहिताओं* में वर्णित हैं। यहाँ अवतार के दो भेद— आविर्भाव तथा प्रादुर्भाव निर्दिष्ट हैं।

सद्य आविर्भवेद् विष्णुर्यत्र भक्तानुकम्पया।
आविर्भावं तु तं विद्यात् प्रादुर्भावमथेतरत्।।[19]

महर्षि अत्रि ने मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह तथा वामन को आविर्भाव की श्रेणी में रखा है तथा शेष पाँच जामदग्न्य, राघव, बलभद्र, कृष्ण एवं कल्कि को प्रादुर्भाव की कोटि में माना है।[20] भृगु ऋषि ने प्राय: अपने सभी ग्रन्थों में अत्रि मुनि के कथन का अनुमोदन किया है।[21] पाञ्चरात्रागम की *पाद्मसंहिता* में इन विभवों का आविर्भाव क्रम अधोलिखित है—

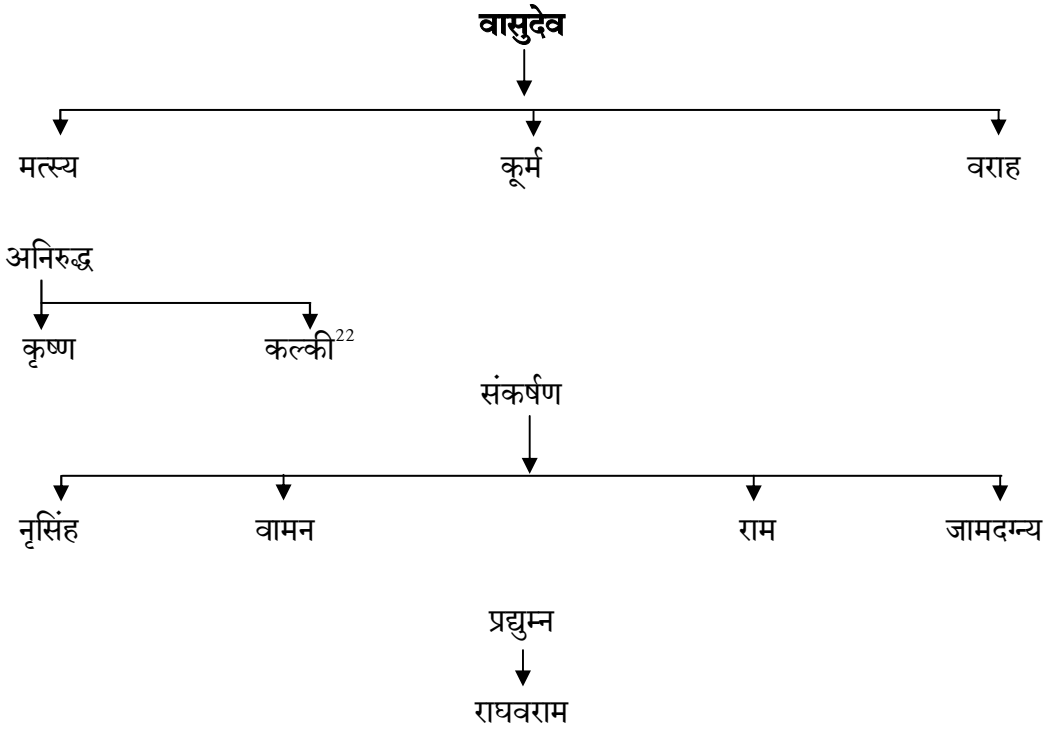

विष्वक्सेन संहिता में विभवों के प्रादुर्भाव और कारणों का संकेत किया गया है। वहाँ गौण-मुख्य विभेद इसका विभाजन किया गया है तथा इन्हें जगत् रक्षणार्थ दीपाद् दीप इवोत्पन्ना अर्थात् दीप से उत्पन्न दीप की तरह कहा गया है।[23] *सात्वतसंहिता*, *अहिर्बुध्न्य संहिता* तथा *लक्ष्मी तन्त्र* में विभव की सूची में नरसिंह, नारसिंह तथा नृसिंह कहा गया है।[24]

नारसिंहाविर्भाव

पाञ्चरात्रागम परम्परा में *सनत्कुमार संहिता* का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[25] प्रस्तुत संहिता में नारसिंहाविर्भाव का 'पुराण' कथित है। तदनुसार हिरण्यकशिपु नामक एक दुर्जेय महासुर हुआ जिसने स्वबल तथा तेज से सभी देवों को पीड़ित कर दिया। अस्तु दुरात्मा दानव से पीड़ित सभी देवता सन्त्रस्त और आकुलचित्त के साथ रुद्र की शरण में गये। रुद्र सभी देवताओं के साथ ब्रह्मा के पास गये, पुन: ब्रह्मा समस्त देवों को साथ लेकर महादेव अनिरुद्ध की शरण में पहुँचे। समस्त देवगणों को अपने सम्मुख देखकर अनिरुद्ध नाग शय्या से उठ गये। देवताओं ने उनके चतुर्मुद्रा रूप की आसनादि से अर्चना की तथा उन्हें प्रसन्नमुद्रा देखकर उनकी बद्धाञ्जलि स्तुति कर अपनी समस्या बतायी।[26] देवताओं की प्रार्थना से भगवान् अनिरुद्ध तत्क्षण नरसिंह रूप में अभिनिबिद्ध हुए। 'सिंहवक्त्रनराकार' का आविर्भाव हुआ। नेत्र युगल प्रदीप्ताङ्गार था। चन्द्ररश्मिप्रतीकाश भयनाशक भैरव नारसिंह का रूप अद्भुत था। शङ्ख, चक्र तथा गदाधारी नृसिंह देव हिरण्यकशिपु वधार्थ निकल पड़े। संध्याकाल में अपने जाँघ पर हिरण्यकशिपु के वक्ष स्थल को विदीर्ण कर दिया। देवताओं के हितार्थ दैत्यराज का वध कर सुरेश्वर दक्षिण दिशा में चले गये।[27] पाञ्चरात्रागम का प्रस्तुत 'पुराण' विवेचन महाभारत[28] तथा पुराणों में आये हुए नृसिंहोपासना से प्राय: साम्य रखते हैं। नृसिंह कथा-तत्त्व-चरमोत्कर्ष अथ से आरम्भ होकर इति तक प्रह्लाद के चतुर्दिक् घूमती है।[29] *तैत्तिरीय आरण्यक* में नारसिंह-गायत्री-मन्त्र का निदर्शन निगम परम्परा को पोषित करती है।[30]

आगम-परम्परा में नृसिंह से जुड़ा महत्त्वपूर्ण प्रसङ्ग ध्यातव्य है जिसका महत्त्व नृसिंह-सम्प्रदाय के इतिवृत्त को समझने के लिए अप्रत्याख्येय है। वह है *सात्वतसंहिता* में विस्तार से वर्णित 'वैभवीय नृसिंहकल्प।'[31] मन्त्रराज की महिमा तथा उसके रहस्य सुदर्शन चक्र स्वरूप नृसिंह, अग्नि प्रकार की तरह नृसिंह मूर्ति के लक्षण, नृसिंह मन्त्र में अधिष्ठित देव शक्ति, वर्ण-चक्र-सिद्धान्त के अन्तर्गत नृसिंह के एकादश पदों (उग्र, वीर, महाविष्णु, सर्वतोमुख, भीषण) की द्वात्रिंशत मूर्ति का निरूपण तथा अन्यान्य विशेषताएँ नृसिंह की विराट्ता आगम-परम्परा को व्याख्यायित करती हैं।

जयाख्यसंहिता में नृसिंह का शरीर 'कल्पनान्तार्कायुत प्रभवाक्ता' कहा गया है। छ: अङ्गों से संयुक्त मूर्ति-चतुष्टय का ध्यान निर्दिष्ट है।[32] नृसिंह मन्त्र का स्वरूप—'ओं ट्ङ्गों ट्ज् ङ्गौं नम:, ज्वलनायुतदीप्तये नृसिंहाय स्वाहा' है।[33] नृसिंह-मन्त्र की साधना हेतु सर्वप्रथम नृसिंह के अङ्गों, उनके चार मूर्ति मन्त्रों तथा उनके अनुचर मन्त्रों का ध्यान तथा न्यास करने का विधान है।[34] नृसिंह के शक्ति-मन्त्र तथा उनके ध्यान प्रकार का विशद विवेचन किया गया है।[35] मन्त्र का न्यास-पूजन कर हवन करना चाहिए। मन्त्र-जप करने से जापक को सभी अभीष्ट फल प्राप्त होता है।[36] संहिता के ही शब्दों में—

यं यं समीहते कामं तं तं प्राप्नोत्ययत्नत:।
एतत्सिंहमन्त्रस्य वक्त्रभूतस्य नारद।।[37]

पाञ्चरात्रागम की प्राचीन संहिता *पौष्कर संहिता* में मात्र नृसिंहावतार स्थल विध्न्यारण्य बताया गया है तथा समस्त देहधारियों का पापहन्ता मृगेन्द्रात्मा कहा गया है।[38]

तन्त्र विधान में मन्त्र ही मुख्यमन्त्री है। मन्त्रशास्त्र में बीजाक्षर बीज से भी सूक्ष्म है—ऐसा निर्दिष्ट है जिसमें समग्र वृक्ष का विकास तथा पल्लवन होता है। *गौतमीय महातन्त्र* में नृसिंह बीज मन्त्र का सङ्केत है।[39] *शेष संहिता* में सुदर्शन-नरसिंह बीज, लक्ष्मी नरसिंह मन्त्रों का वर्णन है।[40] परमसंहिता में नरसिंह मन्त्र तथा नरसिंह वक्त्र मन्त्र विधान विहित है।[41] *अहिर्बुध्न्य संहिता* में 'नारसिंहनुष्टुभ मन्त्रार्थ निरूपण' नामक अध्याय में वेदान्त, साँख्य, योग, पाशुपत और सर्वोत्तम पाञ्चरात्रागम परम्परागतार्थ प्रतिपादित है।[42]

नृसिंह मन्त्र अधोलिखित है—

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंह भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्।।

प्रस्तुत मन्त्र में कुल ग्यारह पद हैं, सबसे अन्त वाला ग्यारहवाँ पद अहं प्रथमान्त कर्त्ताकारक है, दसवाँ नमामि पद उत्तम पुरुषैक वचनान्त क्रिया का बोधक है। नृसिंह के एकादश पदों का विवेचन जहाँ सभी दार्शनिक दृष्टिकोण से तो हुआ ही है प्रत्येक पद पृथक् पृथक् रस की निष्पत्ति भी करते हैं। संहिता के ही शब्दों में रस निष्पत्ति एवं विष्णु व्यवस्था का प्रदर्शन—

क्रोधातिशयतो रौद्रो रस उग्र उदीरितः।
उत्साहातिशयोत्थायी वीरो वीरपदोदितः।।
चतुर्भिरद्भुतैः शब्दैर्महाविष्ण्वादिपूर्वकैः।
भयातिशयहेतुत्वाद् भीषणेन भयानकः।।
रसं वदति शृङ्गारं मन्त्रभद्रपदं मुने।
मृत्युमृत्युपदं चापि वदत्यद्भुतभीषणौ।।
अहमित्यात्म निष्कर्षो नन्तुर्भागवतात्मना।
उग्रः शत्रुधिया देवो वीरो देवगणेक्षया।।
महाविष्णुर्ज्वलंश्चैव सर्वतोमुख इत्यपि।
नृसिंह इति चाश्चर्यो योगसिद्धजनेक्षया।।
भीषणो देव उद्दिष्टः क्षुद्ररक्षोगणेक्षया।
आनन्दवलितापाङ्ग्या लक्ष्या भद्रो निरीक्षितः।।
ऋषीणां मृत्युमृत्युः स भीषणाश्चर्ययोगतः।
क्रियाकारकसंसर्गजन्योऽर्थः स्थूल ईदृशः।। — *अहिर्बुध्न्यसंहिता ५४/१०-१६*

वेदान्त मत में मन्त्र का तात्पर्य कहते हुए कहा गया है कि—

उद्गिरत्यखिलं विश्वमुद्गीर्णं ग्रसति स्वयम्। — *तत्रैव ५४/१७*

जो समस्त पदार्थों को विशेष रूप से प्रेरणा प्रदान करता है तथा उसे विविध रूप से रमण करता है वह है 'वीर'—**'वीरयत्यखिलं भावं विविधं रमयत्यपि।'** — *तत्रैव ५४/१८क*

महाविष्णु शब्द के अन्तर्गत रहने वाले 'महत्' शब्द से त्रिविध परिच्छेद शून्यत्व का बोध—

कालदेशाद्यवच्छेदविरहात् स महान् स्मृतः। — *तत्रैव ५४/१८ ख*

पुनः महत् शब्द का नव प्रकार से निर्वचन किया गया है—

महीयतेर्मेहतेर्वा मुह्यतेरथवा मिहेः।
मनुतेः सजहातेर्वा मां जिहीतेऽथवा महान्।।
मात्यस्मिन्नथ वा विश्वं न जहात्यपि वै जगत्। — *तत्रैव ५४/१९-२०*

'महीयते' इति महान्, मेहतिति महान्, मोहयातीति महान्, मेहतीति महान्, मनुतेति महान्, जहातीति महान्, मां जिहीते इति महान्, माति विश्वमस्मिन्निति महान्, जगत् न जहाति महान् इस प्रकार की व्युत्पत्तियों में 'मह पूजायाम् (भ्वादि), मिह सेचने (भ्वादि), मुह वैचित्ये (दिवादि), मनु अवबोधने (तनादि), ओहाक् त्यागे (जुहोत्यादि), ओहाङ गतौ (जुहोत्यादि), माङ् माने (अदादि)' इस तरह सात धातुओं का प्रयोग हुआ है। किन्तु व्युत्पत्ति नव है इसलिए मिह धातु ओहाङ धातु की तात्पर्य भेद से द्विविधा आवृत्ति की गई है। इस नव संख्या की पूर्ति हो जाती है— *अहिर्बुध्न्यसंहिता* ५४/१८-२५

महत् अथवा महान् की तरह विष्णु शब्द का अर्थ वर्णित है—

विविनक्ति जगत्यस्मिन् सच्चासच्च विचेष्टते।
वेवेष्टि निखिलान् भोगान् यच्छति प्रापिनां स्वयम्।।
आयत्तैः सकलैर्जीवैः प्रणोत्यन्तः स्वरात्मना। — *तत्रैव ५४/२५-२६*

इन दोनों पदों का सम्मिलित रूप महाविष्णु रूप पद अपनी व्यापकता तथा महत्ता के साथ यहाँ उपलब्ध है—

महान् विशति संसारे जायमानो यतो महान्।
महाविष्णुमतो धीरा देवमेनं प्रचक्षते। — *तत्रैव ५४/२७ख-२८क।*

ज्वलच्छब्दार्थ का निरूपण करते हुए कहा गया है कि योगियों के हृदय में, मुमुक्षुओं के परम पद में तथा ब्राह्मणों के यज्ञ मण्डप में जो स्वयं जलता रहता है, जो सूर्य, चन्द्र और अग्नि इन तीनों प्रकार के परम तेजों में कर अवतीर्ण होकर जलता है अथवा संसार को कवलित करके अकेले ज्ञान स्वरूप से जलता है। इस तरह सर्वत्र जलने वाले तथा अपने आश्रितों के पापों को ग्रसने वाले परमेश्वर को ज्वलत् कहते हैं। — *तत्रैव ५४/२८-३०*

सर्वतोमुख का निरूपण—

मुखं शक्तिः समुद्दिष्टा सर्वतो यस्य सा स्थिता।
सर्वतोमुखमाहुस्तं सर्वशक्तिं सनातनम्।

नृसिंह की नृसिंहता इस बात में है कि वह नरों के बन्धन को काटता है—

नराणां बन्धनं हन्ति हिनस्तीति नृसिंहता — *तत्रैव ५४/३२ क।*

दुष्टों को भय प्रदान करता है। अस्तु वह भीषण है—

भियं सनोति दुष्टानां भीषणस्तेन शब्द्यते। — *तत्रैव ५४/३३*

भद्र शब्दार्थ—

भां ददाति रवौ भद्रां भावं द्रावयते सताम्।
भवं द्रावयते घोरं ससारं तापसन्ततम्।। — *तत्रैव ५४/३३-३४।*

मृत्यु अज्ञानवाची है और प्राण का अपहारक है संसार को भी मृत्यु कहा जाता है। इन सबका जो हेतु है उसे 'हरि' कहा गया उन्हें मृत्यु मृत्यु की संज्ञा दी गई है। दो बार मृत्यु का शब्द प्रयोग सोद्देश्य है—

मतिं त्यजत्नेनेति मृत्युरज्ञानमुच्यते।
मृतिं तनोति जन्तूनामिति मृत्युरिति स्थितिः।
मृतिसन्तानरूपत्वान्मृत्युः संसार उच्यते।
नाशकत्वमिहोद्दिष्टं मितमुत्तरमृत्युना — *तत्रैव ५४/३४-३६क*

'अहं' शब्द चतुर्धा वर्णित है—

अहं जिहीते हरिं याति स्वरूपेणेह तादृशः।
पूर्णानन्दस्वरूपो हि चेतनो निखिलो यतः।।
अहीनश्चाप्ययं सर्वैज्ञानशक्त्यादिभिः स्वतः।
अह्ना वाप्यमितोऽयं स्यात् कालातीतो यतोऽखिलः।।
अह्नि वा माति जीवोऽयमहमर्थः स उच्यते।
अहं सङ्कर्षणो ज्ञेयस्तस्मिञ्जीवोऽखिलः स्थितः।। — *तत्रैव ५४/२७-३९*

सांख्य सम्मत मन्त्रार्थ निरूपण

उग्र तथा भीषण ये दो शब्द अव्यक्त रूपता को व्यक्त करते हैं। उग्र अत्यन्त घोर एवं भीषण तथा भय देने वाला है। भगवान् के ये रूप अव्यक्त 'उग्र' तथा 'भीषण' भगवत्स्वरूप ही हैं—

उग्रभीषणशब्दाभ्यां प्रोच्यतेऽव्यक्तरूपता।
उग्रमत्यन्तघोरं यद्भीषणं भयदायि च।
अव्यक्तं तत् परिज्ञेयं भगवद्रूपमेव हि। — *तत्रैव ५४/४०-४१*

'ज्वलन्त' शब्द जीवरूपता की अभिव्यक्ति करता है। ज्वलन् चैतन्य को कहते हैं। जलते रहने के कारण चेतन ही उसका कर्त्ता है—

ज्वलन्तमिति शब्देन प्रोच्यते जीवरूपता।
चैतन्यं ज्वलनं प्रोक्तं तत्कर्त्ता चेतनो ज्वलन्।
ज्वलन्नित्युच्यते सोऽयमसस्त विदिक्रियः।
सर्वतः प्रकृति दृष्ट्वादोषाश्चैव तदुद्भवान्।
विरक्तः सर्वथा तत्र यदा वेत्ति परं हरिम्।
तदा समाप्यते तस्य वेत्तुः सर्वा विदिक्रिया।।
अतः प्रकृतिनिर्मग्नो बुध्यमानो य ईर्यते।
संसारी स ज्वलन् सोऽपि भगवानिति भण्यते।। — *तत्रैव, ५४/४२-४५*

'वीर' शब्द के तात्पर्यार्थ प्रतिपादन में कहा गया है। जो काल रूप से चेतन-अचेतन सारे संसार को विविध प्रकार से प्रेरित करता है वह भगवद्रूप 'वीर' शब्द से जाना जाता है—

विविधं प्रेरयत्येतच्चेतनाचेतनं जगत्।
यः कालो भगवद्रूपं वीरशब्देन स स्मृतम्।। — *तत्रैव ५४/४६।*

तत्त्व त्रितय में जो व्याप्त है उसे विष्णु कहा जाता है। व्याप्ति के बावजूद अलिप्त है और उससे उसकी जो अधिकता है जिसका महत्त्व पूज्य है अतः महत् शब्द से जाना जाता है उसे महाविष्णु कहते हैं। 'सर्वतोमुख' शब्द से देवाधिदेव विष्णु की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता तथा सर्वकर्त्तृता विवक्षित है—

सर्वतोमुखशब्देन प्रोच्यते सर्वशक्तिता।
सर्वज्ञता च देवस्य सर्वकर्त्तत्वमेव च। — *तत्रैव ५४/४८*

देवता की नित्य निदोषता को भद्र शब्द के द्वारा जाना जाता है—

भद्रशब्देन देवस्य नित्यनिर्दोषतोच्यते।

नृसिंह शब्द से विष्णु की पुरुषोत्तमता विहित है—

तथा नृसिंह शब्देन पुरुषोत्तमतोच्यते। — *तत्रैव ५४/४९*

मोक्षप्रदत्त्व गुण के कारण विष्णु को मृत्युमृत्य पद में प्रतिबिम्बित किया गया है। अहं शब्द का तात्पर्य साक्षात् प्रकृति के साहं शब्द से विवक्षित है—

प्रकृत्युत्तरता साक्षात् साहंशब्देन वर्ण्यते।
हिनस्ति गच्छतीत्यादिः प्राकृती याखिलाक्रिया। — *तत्रैव ५४/५१-५२*

इसी भाँति नमामि शब्द का भी साँख्य सम्मत विवेचन किया गया है और बताया गया है कि जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में प्रवाहित होकर निमग्न हो जाती है उसी भाँति सभी जीव परमेश्वर नृसिंह में समाहित हैं—

प्रसंघयायेत्थमात्मानं प्रह्वीभवति यत् स्वयम्।
नद्या इवाम्बुधौ देवे प्रह्वीभावो निमग्नता।
इति ते सांख्यमार्गस्थो मन्त्रोऽर्थः सूक्ष्म ईरितः। — *तत्रैव ५४/५४-५५*

योगमत के अनुसार मन्त्रार्थ विवेचन

योगशास्त्र के अनुसार मन्त्रार्थ निरूपण की प्रतिज्ञा करते हुए प्रत्येक पद की पृथक् पृथक् व्याख्या की गई है। संहिता के ही शब्दों में—

निर्ब्रुवन्ति यथा योगा मन्त्रमेतं विचक्षणाः।
तथा वाच्यस्तव मुने तन्मे निगदतः शृणु।।
उद्गतः क्रुध इत्येवमुग्रः करणरोधनात्।
विवृता येन विजिता ईरा देहस्थवायवः।।
स वीर उदितो योगैस्तन्त्रविज्ञानपारगैः।
जितेन्द्रियो जितश्वासो योऽन्तर्ज्वलति सर्वतः।।
अनिन्द्रियव्यवच्छेदात् सर्वतः प्रसृतो ज्वलन्।
सर्वतोमुख उद्दिष्टः सर्वज्ञानमयो हरिः।।
भा सम्यग्ज्ञानमुद्दिष्टं तस्याः प्रेरणमीषणम्।
भेषणो भीषणः प्रोक्तो भ्ज्ञगवान विश्वभावनः।।
महाविष्णुनृसिंहौ च मृत्युमृत्युश्च पूर्ववत्।
जितेन्द्रियसमीराद्यं जीवरूपं व्यवस्थितम्।।
व्यापिनं महनीयं च धियां सम्यक् प्रचोदकम्।
संसारमोचकं चैव यं विदुः पुरुषोत्तमम्।
नमामि तमहं देवमिति योगानुशासनम्। — *अहिर्बुध्न्यसंहिता ५५/१-८*

समस्त ज्ञानेन्द्रियों के रोधन के कारण उग्र कहलाता है। योगशास्त्र के पारगामी जनों का कहना है कि विवृता का अर्थ विजिता है और ईरा देहस्थ वायु है। जिसने देहस्थ वायु को विजित कर लिया है वह वीर है जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है, श्वास क्रिया को जीत लिया है तथा जो सर्वत्र भीतर ही भीतर जलता रहता है। इन्द्रियों से जिसको रोकना सम्भव नहीं। इसलिए सर्वत्र जलते हुए फैलता रहता है वही ज्वलन् शब्द से जाना जाता है। सर्वज्ञानमय विष्णु को सर्वतोमुख की संज्ञा दी गई है। 'भा' सम्यक् ज्ञान का द्योतक है तथा उसकी प्रेरणा की दृष्टि—ईषण है। 'भ' तथा 'ईषण' दोनों का संयुक्त स्वरूप भेषण है वही भीषण है। इस तरह विश्वभावन भगवान् ही भीषण है। महाविष्णु, नृसिंह तथा मृत्युमृत्यु का तात्पर्यार्थ योगमत में सांख्य सम्मत ही है।

पाशुपत सिद्धान्तानुसार मन्त्रार्थ निरूपण

उग्रव्रतसमाराध्य उग्र शब्देन वर्ण्यते। *५५/८*

अर्थात् जो उग्रव्रत द्वारा आराधनीय है उसे 'उग्र' शब्द से कहा गया हे।

तत्पारयितृन्द्यत्वं वीरशब्देन वर्ण्यते।

भव से पार कर देने के कारण जो वन्दनीय है वह 'वीर' शब्द से विहित है।

मलत्रयप्रागभाव: सर्वतोमुखशब्दित:। *५८/९*

आणवादि भक्तत्रय का प्रागभाव हो वही सर्वतोमुख है।

संविद्घनत्वमाद्यस्य ज्वलच्छब्देन वर्ण्यते। *५८/१० क—*

संविद्घनत्व को ही ज्वलत् शब्द की संज्ञा दी गई है। अर्थपञ्चकरूप पाश 'भी' शब्द से विवेचित है जिसका तात्पर्य भय का अन्त करता है, भय को काट देता है अथवा पशुरूप जीव के पाश छेदन करता है। इसीलिए भीषण शब्द पशुपाश को उच्छेदन करने वाला—इस अर्थ को कहता है—

अर्थपञ्चकरूपस्तु पाशो भीशब्ददश्रित:।
भियं स्यति द्यति स्पष्टं पाशं छिन्ते पशोरिति।
पशुपाशच्छिदं वक्ति शब्दो भीषण इत्ययम् — *तत्रैव ५५/१०-११*

ईश्वर का कल्याणकारकत्व यही 'मृत्युमृत्यु' पद से कहा गया है—

शिवङ्करत्वमीशस्य मृत्युमृत्युपदोदितम्। — *तत्रैव ५५/११*

महाविष्णु तथा नृसिंह पद की व्याख्या सांख्य-योगशास्त्रानुसार यहाँ भी स्वीकार्य है।

पाञ्चरात्रागमानुसार मन्त्रार्थ निरूपण

भगवान् अहिर्बुध्न्य ने साँख्य, योग, पाशुपत तथा वेदान्त सम्मत नारसिंहानुष्टुभ मन्त्रार्थ निरूपण करने के पश्चात् पाञ्चरात्र सिद्धान्तानुसार उग्र आदि पदों के व्यूह तथा विभवादि परत्व का विवेचन किया गया है। 'उग्र' को सङ्कर्षण व्यूहपरत्व की दृष्टि से, 'वीर' पद को प्रद्युम्न की दृष्टि से तथा अनिरुद्ध को महाविष्णु की दृष्टि से विवेचित किया गया है। प्रकार ज्वल पद राम-कृष्णादि विभव-परत्व से निर्देशित है। 'सर्वतोमुख' विविधावतारों के नाना योनि निवेशन का परिचायक है। भद्र शब्द दशावतारों के स्व-स्व स्वभाव की विशेषता को बताता है तथा 'भीषण' शब्द मोक्ष प्रदान करता की अभिव्यक्ति करता है। इसी भाँति मृत्यु-मृत्यु शब्द के द्वारा ब्रह्म की सर्वकालिक तथा स्वाभाविक वृत्ति का प्रतिपादन किया गया है। नृसिंह शब्द की दो रूपों से व्याप्तता बतायी गयी है—मनुष्यों को अपने अन्त:प्रदेश में बोधन कर पुन: उसे पृथक् होकर जो उनके चतुर्दिक् स्थित रहता है। इस प्रकार अन्त: बहि व्याप्त होना है—

नृनात्मनोनुबध्यानतर्हितवैनान् परितोऽपि च।
या स्थितिस्तस्य दैवस्य पुरुषोत्तमता ह्वया।
सोक्ता नृसिंहशब्देन सैषा वाक्यार्थ उच्यते। — *तत्रैव ५५/२७-२८*

समूचे मन्त्र का वाक्यार्थ कथन संहिता के शब्दों में—

सङ्कर्षणादिरूपेण व्यूह्यात्मानं त्रिधा स्थितः।
तत्तदाश्रित कार्याय यो विभुः सर्वतोमुखः।।
नानाविभवरूपेण ज्वलत्यन्तर्भवोदरे।
एवं ज्वलन् भवत्येव भद्रो भद्रतरस्तथा।।
एवं विज्ञातमात्रो यो भीषणो बन्धनाशकृत्।
मृत्योर्हेयस्वरूपस्य मृत्युः प्रतिभटो यतः।।
तमहं व्यूहविभवविज्ञानसुलभं नृणाम्।
अन्तर्बहिरिदं व्याप्य तिष्ठन्तं पुरुषोत्तमम्।।
नृसिंहं करणैः सर्वैरात्मत्वेनानुसन्दधे।
इति सात्वतसिद्धार्थो लेशतस्ते निदर्शितः।।
सूक्ष्मो नानाविधोऽर्थो यः परमद्य निशामय। — *तत्रैव ५५/२९-३४*

'उग्र' पद से प्रथम सङ्कर्षण व्यूह को परार्थ वर्णन क्रम में अशेष भुवनों का आधार, संसार रूप रोग का विनाशक, उद्दाम या उदय उग्र वरण के द्वारा प्रथम वैष्णव रूप से प्रकाशित है। उन्हें अप्रतिहत और उज्ज्वल देवता कहा गया है—

अशेषभुवनाधारः संसारगदनाशनः।
उद्दाम उदयो विष्णोः सङ्कर्षणसमाह्वयः।
उग्रवर्णैः समुद्दिष्टो वैष्णवः प्रथमोदयः।।
उद्दामः सोऽप्रतिहतो विष्णोरुदय उज्ज्वलः।
अत उग्रपदोद्दिष्टो देवः सङ्कर्षणः प्रभुः।। — *तत्रैव ५५/३४-३७*

'वीर' पद से प्रद्युम्न व्यूह को अमृत और भागवत धर्म का आधार बताया गया है। ये सभी धर्मों के अधिष्ठाता तथा धर्म के आश्रय हैं। ये तमोमय दोष को अनलवत् भस्म कर देते हैं अतः 'वीर' वर्ण से विभूषित हैं—

अमृताधाररूपश्च मायावांश्च ततोऽनलः।
सद्धर्मस्य ह्यधिष्ठाता प्रद्युम्नो धर्मसंश्रयः।

दहत्यनलवच्चैव विद्यादोषं तमोमयम्।।
वीरवर्णैरतो देवः प्रद्युम्नः परिकीर्त्यते। — *तत्रैव ५५/३८-४०।*

महाविष्णु शब्द से अनिरुद्ध व्यूह का सङ्कीर्तन करते हुए उन्हें जगत् में भास्कर बन कर अग्नि रूप में प्रकट हुआ माना गया है। सारे भुवनों को अभय प्रदान करते हुए वैकुण्ठ में वास करता है जिससे जगत् निरन्तर स्थित है, जो जगत् का शासन करता है स्वयं अध्यक्ष है वह महाविष्णु अनिरुद्ध है—

अग्निरूपो जगत्यस्मिन् भास्करश्च स्वयं भवन्।
भुवनाभयदश्चैव वैकुण्ठोऽविहतं जगत्।
शासितो स्वयमध्यक्षो महाविष्णुवर्णितः। — *तत्रैव ५५/४२-४३*

नारसिंहानुष्टुभमन्त्रार्थनिरूपण का समापन *अहिर्बुध्न्यसंहिता* के ५६वें अध्याय में हुआ है। यहाँ पूर्वाध्याय के विवेचन क्रम को विस्तृत रूप प्रदान करते हुए विभवात्मक देवता चक्र का तत्तच्छास्त्रों में प्रतिपादित स्वरूप विवेचित है। ज्वलान्तादि पदों से पद्मनाभादि ३९ अवतारों का वर्णन वर्णित है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में वर्णमातृका के विभिन्न अक्षरों के साथ तादात्म्य तथा रहस्यों का विस्तृत निरूपण है। — *तत्रैव ५६/१-३७*

इस सन्दर्भ में वर्णमाला में व्यक्त नृसिंहदेव अपने एकादश पदों के साथ विराट् देवत्व की अभिव्यक्ति देते हैं। उदाहरणार्थ उनका एक पद विख्यात 'ज्वलन्तम्' है। इसका वर्ण विभाग क्रम है—(१) जकार, (२) वकार, (३) वकारोत्तरवर्ती अकार, (४) लकार, (५) पुनः लकार, (६) पुनः लकार, (७) नकार, (८) तकार, (९) पुनः तकार, (१०) पुनः तकार, (११) अम् प्रत्ययवर्ती मकार। इन वर्णों से एकादश अवतारों का वर्णन कहा गया है।

'मन्त्रराज' नाम से प्रख्यात नारसिंहानुष्टुभमन्त्र का जाप इस सम्प्रदाय के अनुयायी करते थे। समस्त दुःखों से मुक्ति पाकर अपना परम कल्याण लाभ लेते थे। आगम प्रमाणों के विवेचन क्रम में नृसिंह देव का अधिष्ठातृत्व *नृसिंहपूर्वतापनीय उपनिषद्* तथा *नृसिंहोत्तरतापनीयोपिनषद्* में भी नारसिंहानुष्टुभमन्त्रार्थ निरूपण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ इन्हें सृष्टि का मूल माना गया है। नृसिंह-सम्प्रदाय के अधिष्ठातृ देवता की उपासना जगत् के आदिकारण तथा परमतत्त्व मान कर की जाती थी। इस तथ्य की पुष्टि आगमोपनिषद् परम्परा से प्रमाणित होता है।

मन्त्र शक्ति का नामात्मक प्रकाश है तो यन्त्र रूपात्मक अभिव्यक्ति तथा तन्त्र क्रियात्मक पद्धति। इसीलिए मन्त्र-यन्त्र तथा तन्त्र का नाम-रूप-क्रिया के द्वारा समस्त साधनाएँ पूर्ण होती हैं। नृसिंह का स्वरूप स्वयं में 'तान्त्रिक-यन्त्र' का परिचायक है। वैष्णवागमों में रूप की व्यापक प्रतिष्ठा भी रही है। क्रिया पाद में प्रतिमा-प्रसाद-प्रतिष्ठा की विशद चर्चा की गई है। सच तो यह है कि आगमों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ही है। *ईश्वर संहिता* में नृसिंह यन्त्र को नृसिंह-मन्त्र के साथ शत्रु-दमन, ऐश्वर्य-प्राप्ति तथा रोग मुक्ति आदि के लिए उपयुक्त कहा गया है। यहाँ यह भी निर्दिष्ट है कि मन्त्र वस्त्र के टुकड़े पर अथवा पत्ते पर अङ्कित करके

धारण किया जा सकता है।[43] आचार्य चक्रपाणिकृत *तन्त्रामोद एवं शिवताण्डव* में नृसिंह नारायण यन्त्र का स्वरूप निम्नवत् है—

अथोच्यते महेशानि! यन्त्रराजो मनोहरः।
नारसिंहं तथा यन्त्रं नारायणमथापरम्।।
भवत्येव महादेवि! यन्त्रैकं तु फलद्विभाक्।
नारसिंह भयहरं रक्षकं चापरं प्रिये।।[44]

नारसिंहं नारायणं च यन्त्रम्

११	१६	१	६
२	५	१२	१५
८	३	१४	९
१३	१०	७	४

नयने नागकोष्ठे तु शिवे विश्वमिते स्वरे।
चन्दे मनो रवौ नन्दे तिथौ वेदे रसे पुनः।।
विकारे दशमे बाणे वह्नि कोष्ठे लिखेत्सुधीः।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान्।।
विलेखेत्पूर्व पूर्वाच्च विलोमेन सुरेश्वरी।
साध्यमत्र महामाया देवी त्रिभुवनेश्वरी।।
पूर्वोक्तैरेव तैर्द्वैव्यैर्विलिख्य सुरसुन्दरि।
धारयेत्कण्ठगं वापि वाहौ वा दक्षिणे प्रिये।।

पारमेश्वर संहिता में नृसिंह यन्त्र का सुस्पष्ट विवरण प्राप्त होता है।[45] *वैखानसागम संहिताओं* में नृसिंह मूर्ति का वर्णन प्रायः सभी संहिताओं में उपलब्ध है। मुख्य रूप से नृसिंह दो तरह की प्रतिमाओं का उल्लेख है—एक स्थित तथा दूसरी आसीन।[46] मरीचि संहिता में नृसिंह के तीन प्रकार के विग्रह निर्दिष्ट हैं—स्थित, आसीन तथा यानक।[47] भृगु प्रोक्त क्रियाधिकार में पाँच, प्रकीर्णाधिकार में स्थित, आसीन, सुदर्शन-नृसिंह, लक्ष्मी-नृसिंह, पाताल-नृसिंह तथा पुच्छ-नृसिंह—इन छः भेदों का वर्णन है।[48] सपरिवार नृसिंह ध्रुवबेर का स्वरूप महर्षि कश्यप के शब्दों में—**नृसिंह स्फटिकोपलमध्ये वा उत्कुटिकासने स्वस्तिकासने वा आसीनं जानुप्रसारितोत्तम्भद्बाहुं शङ्खचक्रधरं वा सिंहासने चतुर्भुजं ब्रह्मेशाभिष्टुतं वा देवीभ्याम् ऋषिभ्यां यज्ञतीर्थाभ्यां सामभूतीशाभ्यां वाहनशैषिकाभ्यामासीनम्।**[49] नृसिंहं ध्रुवबेर के लिए विमान विशेष-त्रिकूट, मण्डप, नन्द्यावर्त, सर्वतोभद्र तथा पर्वताकृत मान्य हैं।[50] नृसिंह ध्रुवबेरमान का विस्तार से विवेचन मुनि मरीचि ने किया है।[51] पाञ्चरात्रागम की *विहगेन्द्रसंहिता* में नृसिंह के प्रायः ६४ भेद नामोल्लेखपूर्वक बताये गये हैं, जिनके नाम

अधोलिखित हैं—१. स्वयंनृसिंह, २. मोक्षनृसिंह, ३. विजयनृसिंह, ४. छत्रनृसिंह, ५. दीर्घनृसिंह, ६. विरूपनृसिंह, ७. पूर्णनृसिंह, ८. अब्धिनृसिंह, ९. लक्ष्मीनृसिंह, १०. विजयलक्ष्मीनृसिंह, ११. योगनृसिंह, १२. योगेश्वरनृसिंह, १३. दीप्तिनृसिंह, १४. पुष्टिनृसिंह, १५. भूपप्रमाथिनृसिंह, १६. ज्वालानृसिंह, १७. उग्रनृसिंह, १८. घोरनृसिंह, १९. विदारणनृसिंह, २०. अहोबलनृसिंह, २१. स्तम्भनृसिंह, २२. महानृसिंह, २३. पातालनृसिंह, २४. अनन्तनृसिंह, २५. ग्रहणनृसिंह, २६. प्रदाननृसिंह, २७. आवेशनृसिंह, २८. चण्डनृसिंह, २९. नवव्यूहनृसिंह, ३०. चक्रनृसिंह, ३१. दिक्नृसिंह, ३२. चण्डनृसिंह, ३३. अरनृसिंह, ३४. प्रसादनृसिंह, ३५. ब्रह्मनृसिंह, ३६. विष्णुनृसिंह, ३७. रौद्रनृसिंह, ३८. मार्त्तण्डसिंह, ३९. चन्द्रनृसिंह, ४०. भैरवनृसिंह, ४१. पृथिवीनृसिंह, ४२. वायुनृसिंह, ४३. आकाशनृसिंह, ४४. ज्वलननृसिंह, ४५. आधारनृसिंह, ४६. अमृतनृसिंह, ४७. हंसनृसिंह, ४८. आत्मनृसिंह, ४९. सत्यनृसिंह, ५०. यज्ञनृसिंह, ५१. अन्नदाननृसिंह, ५२. प्रभासनृसिंह, ५३. विश्वरूपनृसिंह तथा ५४. त्रितारनृसिंह। यहाँ नामों की गणना से कुल संख्या ५४ होती है। ग्रन्थ के प्रतिज्ञावाक्य तथा उपसंहार वाक्यों के अनुसार नृसिंह के ६४ रूपों का निर्देश है।[52] इस तरह पाञ्चरात्रागम में जितने भेद नृसिंह मूर्ति के देखते हैं, उतने भेद अन्य किसी देव के नहीं मिलते। जहाँ तक वैखानसागम की स्थिति है, क्रियाधिकार में पाँच भेदों की चर्चा करते हुए अन्त में 'नारसिंहवकिल्पाश्च बहुधा परिकीर्तिता:' कहा गया है।[53] सपरिवार नृसिंहबेरों का स्वरूप वैखानसागम संहिता में निर्दिष्ट है।[54] शत्रु दस्यु विनाशायापराजितत्वकाङ्क्षी नृसिंहं...पूजयेत्।[55] विग्रह-प्रतिष्ठा-विधि एवं उसके फल का स्वरूप भी वर्णित है।

भगवान् नारायण के अनेक रूप और नाम और नाम शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। पाञ्चरात्रागम के *सनत्कुमार संहिता* में नरसिंह के शतनाम का वर्णन उपलब्ध है। यहाँ यह कथित है कि ये सभी क्षत्रिय ही हैं जो भक्तिपूर्व विष्णु को प्राप्त करते हैं।[56] अष्टाक्षर मन्त्र के द्वारा पृथक् पृथक् उनकी सिद्धि प्राप्त होती है।[57] दक्षिण दिशा में नारसिंह लोक विवेचन सुस्पष्ट रूप से किया गया है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह सुविदित होता है कि वैष्णवागमों में नृसिंहोपासना विषयक विपुल सामग्री उपलब्ध है। आगम परम्परा में नृसिंह विभव की महत्ता निर्विवाद तो है ही। यहाँ नृसिंहाविर्भाव पर भी विभिन्न आगमों में वर्णन निर्दिष्ट है। नृसिंह-दीक्षा का सविस्तार वर्णन हुआ है।[58] शान्तिक तथा पौष्टिक अभिचार द्वारा पूर्वार्जित विकारों से मुक्ति होती है।[59] तत्पश्चात् 'आप्यायन' कर्म से पूर्व पापों का शमन किया जाता है।[60] यह एक जटिल प्रक्रिया है जिसको सफलतापूर्वक सम्पादित कर मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है। नित्य क्रिया परायण, परिशुद्ध तथा आत्मचेता का ही दीक्षा देने का निर्देश है।[61]

उत्सव-विधान आगम-साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। दक्षिण भारत में आज भी देव मन्दिरों में ये उत्सव अत्यन्त उत्साह एवं समारोहपूर्वक मनाये जाते हैं। *मार्कण्डेय संहिता* तथा *विश्वामित्र संहिता* में नृसिंह जयन्ती का वर्णन वर्णित है।[62] *पुरुषोत्तम संहिता* में संवत्सरोत्सव विधि के अन्तर्गत नृसिंह जन्मोत्सव का निर्देश है।[63] नृसिंह व्रत का भी सङ्केत है।

नृसिंहोपासना की महत्ता आचार्य शङ्कर ने तो नृसिंह स्तवन में किया ही है उसके बाद आचार्य रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित आठ पीठों में से एक अहोबिल में नृसिंह भगवान् देवालय है जहाँ के आचार्य शटकोपाचार्य की उपाधि से विभूषित हैं।[64]

आचार्य शङ्कर ने *प्रपञ्चसारतन्त्र* के पच्चीसवें पटल (पृ. २७६-२८२) में श्री नृसिंह विधान को ७३ श्लोकों में स्पष्ट विवेचित किया है। यहाँ पर अनुष्टुप् मन्त्र, मानस पूजा, बीज मन्त्र, षडक्षर मन्त्र, होम तथा यन्त्र एवं रक्षा यन्त्र का विधान किया है।

शारदातिलक (पृ. ३७१-३९२) के षोडश पटल में नृसिंह मन्त्र, न्यास, मुद्रा, पुरश्चरणादि, यन्त्र, बीज, ज्वाला नृसिंह, लक्ष्मी नृसिंह आदि के मन्त्र तथा यन्त्रों का विधान समुपलब्ध है।

श्रीविद्यार्णव (पृ. ४५६-४७०) के ८८वें श्वास में नृसिंह मन्त्र, दशन्यास, ध्यान, होम, यन्त्र, षडक्षर मन्त्र, लक्ष्मी नृसिंह, वीर नृसिंह तथा सुदर्शन नृसिंह का सम्प्रयोग वर्णित है। *मन्त्रमहोदधि* (पृ. ५३८-५५२) की चौदहवीं तरङ्ग में नृसिंह का बीज मन्त्र, आवरण पूजा, काम्य प्रयोग, भयनाशक नृसिंह मन्त्र, लक्ष्मी नृसिंह मन्त्र, दशावतार नृसिंह मन्त्र, अभय नृसिंह मन्त्र का विस्तृत विधान प्राप्त है। अनुष्ठान प्रकाश के पृ. २७४-२७५ में नृसिंह यन्त्र, लक्ष्मी मन्त्र तथा षडक्षरी मन्त्र की विधि है। *मन्त्रमहार्णव* के सप्तम तरङ्ग में पृ. १३५-१३७ में नृसिंह के विविध विधान प्रदर्शित हैं।

वर्तमान समय में दक्षिण भारत में अगणित परिवारों के कुल देवता भगवान् नृसिंह हैं। द्राविड़ क्षेत्र में नृसिंहोपासना विशेष रूप से प्रचलित है। नृसिंहानुचरित काव्यों-स्तोत्रों एवं नानाविध रचनाओं की प्रवृत्ति दक्षिण में है। नृसिंह चम्पू परम्परा पिछली शताब्दी तक मौजूद रही है। नृसिंह सम्प्रदाय एक अनुशीलन नामक अध्याय में डॉ. ध्यानेन्द्र नारायण दूबे ने विस्तार से विवेचन किया है।[65]

लोकयात्राप्रसिद्ध्यर्थं सृष्टुब्रह्मादिरूपिणे।
नमस्तुभ्यं नृसिंहादिमूर्तिभेदाय विष्णवे।। — *भार्गवतन्त्रं १/३६*

सन्दर्भ

1. श्रुतिप्रमाणागममङ्गलैश्च शेते जरामृत्युभयादभीत:। — *महाभारत शान्तिपर्व*, 229/46
2. आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनि:श्रेयसोपाया: स आगम:। — *तत्त्ववैशारदी* 1/7
3. *ईशावास्योपनिषद् भाष्य* 10
4. प्रतिभानलक्षणा इयं शब्दभावनाढ्य आगम एवेति। — *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतविमर्शिनी*, पृ. 93
5. (क) विष्णुतन्त्रं द्विधा प्रोक्तं सौम्यमाग्नेयमित्यपि। सौम्यं वैखानसं प्रोक्तमाग्नेयं पाञ्चरात्रकम्। सौम्याग्नेये तथा प्रोक्ते शास्त्रे वैदिकतान्त्रिके। — *खिलाधिकार* 41/1-2
   (ख) वैखानसं पाञ्चरात्रं वैदिकं तान्त्रिकं क्रमात्। — *आनन्दसंहिता* 13/1
6. (क) इत्यार्षे श्रीवैखानसे भगवच्छास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायांधिक्ताधिकारे। — अध्यायान्त पुष्पिका

(ख) इत्यार्षे श्रीवैखानसे भगवच्छास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायाक्रियाधिकारे। — अध्यान्त पुष्पिका

7. *वैखानसागम कोश* 1-11 भाग, सम्पादका: प्रो. एन.एस. रामानुजाताचार्यादि, 1993-2010 ई.।
8. *सांस्कृतिक राष्ट्रवाद*, पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, वाराणसी-1, 2004 ई., पृ. 66
9. (क) *प्रकीर्णाधिकार* 33/1-4
   (ख) *श्रीप्रश्नसंहिता* 2/54
10. *जयाख्यसंहिता*, पटल 29
11. *कश्मीर शैविज्म* — जे.सी. चटर्जी, पृ. 59
12. *ध्वन्यालोक*, मङ्गलाचरण, श्लोक 1
13. *ध्वन्यालोक* मङ्गलश्लोक 1 पर लोचन टीका, पृ. 5
14. *यतीन्द्रमतदीपिका*, नवमोऽवतार:, पृ. 253
15. *प्रकीर्णाधिकार* 33/11-22
16. तत्रैव 16/122
17. *ज्ञानकाण्ड*, अध्याय 36
18. (क) *विमानार्चनकल्प पटल* 55, (ख) *समूतार्चनाधिकरण* 58/2, (ग) *अर्चनाधिकार* 37, (घ) *खिलाधिकार* 19/1-2, (ङ) *ज्ञानकाण्ड* 79
19. *प्रकीर्णाधिकार* 1/193
20. पूर्वान् पश्चवरान् प्राहुराविर्भावानिति क्रमात्। अपरांस्तेषु पञ्चैवे प्रादुर्भावान् वदन्ति च। — *समूतार्चनाधिकरण* 58/3
21. (क) *अर्चनाधिकार* 37, (ख) *खिलाधिकारी* 19/3, (ग) *क्रियाधिकारी* 11/2, (घ) *प्रकीर्णाधिकारी* 16/113-114
22. *पाद्मसंहिता ज्ञानपाद* 2/30-33
23. *Agama Kosh*, Vol IV, Paneratragama, Prof. S.K. Ramachandra Rao, Kalptaru Research Aceademy, Banglore-8, 1991, pp 123-124.
24. (क) *सात्वतसंहिता* 9/77, 83, (ख) *अहिर्बुध्न्यसंहिता* 5/50, 57 अ, (ग) *लक्ष्मीतन्त्र* 11/19, 25
25. *सनत्कुमार संहिता*, सम्पादक पं. वी. कृष्णमाचार्य, आड्यार लाइब्रेरी रिसर्च सेन्टर, मद्रास, 1969
26. *सनत्कुमार संहिता*, इन्द्ररात्र 3/10-16
27. *सनत्कुमार संहिता*, इन्द्ररात्र 3/20-27ए
28. *महाभारतशान्तिपर्व* 339/78, *हरिवंश पुराण* 141वां अध्याय
29. *मत्स्यपुराण अध्याय* 161-163 तक, *ब्रह्मपुराण अध्याय* 2-3, *स्कन्दपुराण* 5/66, *कूर्मपुराण* अध्याय 6, *वायुपुराण*, भाग-2, अध्याय 6, ब्रह्माण्डपुराण 2/5, पद्मपुराण पञ्चमखण्ड 42/77-84, षष्ठ खण्ड 265/41-43, भागवतपुराण स्कन्ध 7/1-9 तक, *विष्णुपुराण*, प्रथम अध्याय 5, *नृसिंहपुराण*, अध्याय 40-44, *अग्निपुराण* अध्याय 4
30. वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्ण दंष्ट्राय धीमहि। तन्नो नारसिंह: प्रचोदयात्।। ; तैत्तिरीयारण्यक 10/1-7
31. *सात्वत संहिता* 17/1-458
32. *जयाख्य संहिता* 29/2
33. तत्रैव, भूमिका, पृ. 31
34. तत्रैव, 29/3-11
35. तत्रैव 29/12-26
36. तत्रैव, 29/27-57
37. तत्रैव, 29/58
38. *पौष्करसंहिता* 36/318-319

39. *गौतमीय महातन्त्र* 17/25
40. *शेषसंहिता* 23/11-44क, अध्याय 24
41. *परमसंहिता* 26/1-3, 7-10
42. *अहिर्बुध्न्यसंहिता* अध्याय 54, 55, 56
43. *ईश्वरसंहिता* नृसिंहकल्प 2/पाँचवाँ अध्याय
44. *तन्त्रामोद एवं शिवताण्डव*, पृ. 390, सम्पा. डॉ. महाप्रभुलाल गोस्वामी, चौखम्भा संस्कृत संस्थानम, वाराणसी, 1993 ई.
45. *पारमेश्वरसंहिता*, अध्याय 23, 24 एवं 26
46. (क) *समूर्त्तार्चनाधिकरण* 59/1
(ख) *ज्ञानकाण्ड* 81
47. *विमानार्चकल्प पटल* 57
48. *क्रियाधिकार* 11/27-29, *प्रकीर्णाधिकार* 13/51-52
49. *ज्ञानकाण्ड* 37
50. *वासाधिकार* 20, ज्ञानकारण 37
51. *विमानार्चनकल्प पटल* 57
52. *विहगेन्द्रसंहिता* 4/7-17
53. *क्रियाधिकार* 11/58
54. *प्रकीर्णाधिकार* अध्याय 13
55. *ज्ञानकाण्ड* 37
56. ज्ञानकाण्ड 81
57. *सनत्कुमार संहिता*, इन्द्रराज्ञ. 6/70-83
58. *सारस्वत संहिता* 17/103-139
59. तत्रैव 17/154-198
60. तत्रैव 17/199-235
61. तत्रैव 17/436-452
62. *मार्कण्डेय संहिता* 8/28-30, *विश्वामित्र संहिता* 60/109-112
63. *पुरुषोत्तमसंहिता* 9/8-13
64. *वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य व सिद्धान्त* — पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. 159
65. *नरसिंहपोसना का अभ्युदय*, तरुणा प्रकाशन, लखनऊ, 1998, पृ. 121-138

सहायक आचार्य,
धर्मागम विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005

वाल्मीकीय रामायण में राम के विष्णु स्वरूप की सिद्धि

डॉ. सुभाष शर्मा

आदिकवि वाल्मीकि द्वारा चित्रित राम का चरित नर रूप है, या नारायण रूप, यह विद्वानों के लिए चिन्तन का विषय है। राम का चरित शील और आचरण के सौन्दर्य तथा मञ्जुल गुणों के सामञ्जस्य का अनुपम उदाहरण है। वस्तुतः रामायण का यह वैशिष्ट्य है कि इसे जितनी बार पढ़ा जाये, उतनी ही बार उसमें नवीन अर्थ का बोध होता है, उसमें नवीन बातें सूझती हैं। इसी प्रकार राम के चरित्र का मनन जब हम बार-बार करते हैं तो उसमें भी नवीन अर्थ का स्फुरण होता है। राम का आदर्श स्वरूप वाल्मीकि इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते।। – *वाल्मीकीय रामायण–अयोध्याकाण्ड १७.१४*

वस्तुतः वाल्मीकि की दृष्टि में चरित्र का सर्वाधिक महत्त्व है। चरित्र ही देवत्व, मनुष्यत्व अथवा दानवत्व का रूप है। श्रीराम में चरित्र का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है। चरित्र के बल पर ही वे मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में पूज्य हैं। एक आदर्श मनुष्य में जो गुण होने चाहिए वे समस्त गुण राम में हैं। वाल्मीकि के राम से लोक को '**रामादिवत् प्रवर्तितव्यँ न रावणादिवत्**' का काव्यात्मक उपदेश प्राप्त होता है। वाल्मीकि ने महर्षि नारद से एक सम्पूर्ण चरित्रवान् पुरुष के विषय में जिज्ञासा प्रकट की थी वह चारित्रिकता मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम में अपने पूर्ण विकसित स्वरूप में परिलक्षित होती है।

संस्कृत साहित्य के उपलब्ध इतिहास ग्रन्थों में राम के अवतारत्व को स्वीकार नहीं किया गया है। इसी की कसौटी पर प्रथम एवं सप्तम काण्ड को प्रक्षिप्त माना गया है। उनकी मान्यता है कि द्वितीय काण्ड से छठे काण्ड तक राम के अवतार स्वरूप का उल्लेख नहीं है। अतः सातों काण्डों में किस-किस पात्र ने राम को विष्णु अर्थात् परब्रह्म के रूप में माना है यह इस शोध लेख का प्रमुख विचार है।

राम का क्रोध एवं प्रसाद दोनों ही अमोघ हैं किन्तु वहाँ भी पात्र विवेचन ही प्रमुख है। दण्ड के लिए दण्ड्य के अपराध को ही वे आधार मानते हैं—

नास्य क्रोधः प्रसादो वा निरर्थोऽस्ति कदाचन।
हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति।। — *तदेव, ४.६*

अयोध्याकाण्ड के द्वितीय सर्ग में राजा दशरथ द्वारा श्री राम के राज्याभिषेक का प्रस्ताव रखते हुए दशरथ कहते हैं—

अनुरूपः स वो नाथो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणाग्रजः।
त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम्।। — *तदेव, २.१३*

अर्थात् राम आपके लिए योग्य स्वामी सिद्ध होंगे। उनके जैसे स्वामी से सम्पूर्ण त्रिलोकी भी सर्वाधिक उपयुक्त नाथ वाली हो जायेगी। दशरथ का प्रस्ताव सुन कर वहाँ उपस्थित नरेश बोले कि राम संसार में सत्यवादी, सत्यपरायण और सत्पुरुष है। साक्षात् श्रीराम से ही श्री के साथ धर्म भी पूर्णता को प्राप्त हुआ है। वे सम्पूर्ण त्रिलोकी की भी रक्षा कर सकते है। उनका क्रोध और प्रसाद कभी भी व्यर्थ नहीं होता है। ये वहाँ उपस्थित राजाओं के मनोगत भाव है—

रामः सत्पुरुषो लोके सत्यः सत्यपरायणः।।
साक्षाद् रामाद् विनिर्वृत्तो धर्मश्चापि श्रिया सह।। — *तदेव, २.२९*
शक्तस्त्रैलोक्यमप्येष भोक्तुं किं नु महीमिमाम्।
नास्य क्रोधः प्रसादश्च निरर्थोऽस्ति कदाचन।। — *तदेव, २.४५*

देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व और नाग आदि उनके अधीनस्थ के रूप में सदा ही बल, आरोग्य और आयु की शुभकामना करते है। श्री राम द्वारा विराध नाम राक्षस (तुम्बुरू नामक गन्धर्व जिसे कुबेर ने राक्षस होने का शाप दिया था)का वध करते समय विराध का कथन है—हे राम आपका बल देवराज इन्द्र के समान है। मैं आपके हाथ से मारा गया। मोहाविष्ट में मैं आपको पहचान न सका—

हतोऽहं पुरुषव्याघ्र शक्रतुल्यबलेन वै।
मया तु पूर्वं त्वं मोहान्न ज्ञातः पुरुषर्षभ।। — *अरण्यकाण्ड ४.१६*

विराध राम के हाथों मर कर अपने को गौरवान्वित महसूस कर रहा है। वह कहता है कि आपकी कृपा से मुझे इस भयंकर शाप से छुटकारा मिल गया—

तव प्रसादान्मुक्तोऽहमभिशापात् सुदारुणात्।
भुवनं स्वं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु परन्तप।। — *तदेव, ४.१९-२०*

शरभङ्गमुनि को इन्द्र ब्रह्मलोक ले जाना चाहते थे, परन्तु मुनि श्रीराम से मिलकर ही स्वर्गलोक अथवा ब्रह्मलोक को जाना चाहते हैं—

अहं ज्ञात्वा नरव्याघ्र वर्तमानमदूरतः।
ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामदृष्ट्वा प्रियातिथिम्।। — *तदेव, ५.२९*

अरण्यकाण्ड में ही सुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम में पहुँचने पर वे श्रीराम का स्वागत करते है और कहते हैं कि मैं आपकी प्रतीक्षा में था तथा आपके दर्शन कर ही मैं देव लोक जाऊँगा—

स्वागतं ते रघुश्रेष्ठ राम सत्यभृतां वर।
आश्रमोऽयं त्वयाऽऽक्रान्तः सनाथ इव साम्प्रतम्।।
प्रतीक्षमाणस्त्वामेव नारोहेऽहं महायशः।
देवलोकमितो वीर देहं त्यक्त्वा महीतले।। — *तदेव, ७.८-९*

अगस्त्य ऋषि श्री राम को दिव्यास्त्र प्रदान करते है, जिनमें भगवान् विष्णु का दिया हुआ धनुष तथा ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त अमोघ बाण है। अगस्त्य कहते हैं—

अनेन धनुषा राम हत्वा संख्ये महासुरान्।
आजहार श्रियं दीप्तां पुरा विष्णुर्दिवौकसाम्।। — *तदेव, १२.३५*

खर-दूषण जब १४ हजार राक्षसों की सेना के साथ राम से युद्ध करने के लिए आये, उस समय पुण्यकर्मा महात्मा, ऋषि, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारण वहाँ एकत्रित होकर एक दूसरे से कहने लगे कि जैसे चक्रधारी भगवान् विष्णु समस्त असुर शिरोमणियों को परास्त कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीराम युद्ध में इन पुलस्त्यवंशी निशाचरों को पराजित करें—

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्यस्तु लोकानां ये च सम्मताः।
जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान् रजनीचरान्।।
चक्रहस्तो यथा विष्णुः सर्वानसुरसत्तमान्।। — *तदेव, २३.२८-२९*

इसे ही पुनः अगले सर्ग में इस प्रकार कहा है—

स्वस्ति गोब्राह्मणानां च लोकानां चेति संस्थिताः।
जयतां राघवो युद्धे चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुङ्गवान्।। — *तदेव, २४.२०-२१*

इस युद्ध को देखने के लिए देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारण आदि महात्मा वहाँ इकट्ठे हो गये। (*तदेव, २४.१९*) राम द्वारा खर-दूषण के मारे जाने पर देवता कहते हैं—

अहो बत महत्कर्म रामस्य विदितात्मनः।
अहो वीर्यमहो दार्ढ्यं विष्णोरिव हि दृश्यते।। — *तदेव, ३०.३२*

देवताओं के चले जाने पर वहाँ बहुत से राजर्षि और अगस्त्य आदि महर्षि आये, जिन्होंने बताया कि इन्द्र शरभङ्ग मुनि के आश्रम में इसी प्रयोजन से आये थे कि इसी कार्य की सिद्धि के लिए महर्षियों ने विशेष उपाय कर आपको पञ्चवटी के इस प्रदेश में पहुँचाया था—

एतदर्थं महातेजा महेन्द्रः पाकशासनः।
शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरन्दरः।।
आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः।। — *तदेव, ३०.३४-३५*

अकम्पन राक्षस द्वारा खर की मृत्यु का समाचार प्राप्त कर रावण बहुत ही क्रोधित होता है और कहता है कि वह राम का वध करने के लिए जन स्थान को जायेगा। तब अकम्पन राम के बल और पुरुषार्थ का वर्णन करते हुए कहता है कि राम बाणों से नदी के वेग को पलटने में समर्थ है। अपने पराक्रम से सम्पूर्ण लोकों का संहार करके पुनः नये सिरे से प्रजा की सृष्टि करने में समर्थ है—

असाध्य कुपितो रामो विक्रमेण महायशाः।
आपगायास्तु पूर्णाया वेगं परिहरेच्छरैः।।
असौ रामस्तु सीदन्तीं श्रीमानभ्युद्धरेन्महीम्।
भित्त्वा वेलां समुद्रस्य लोकानाप्लावयेद् विभुः।।
वेगं वापि समुद्रस्य वायुं वा विधमेच्छरैः।
संहत्य वा पुनर्लोकान् विक्रमेण महायशाः।।
शक्तः श्रेष्ठः स पुरुषः स्रष्टुं पुनरपि प्रजाः।। — *तदेव, ३१.२३-२६*

इसका तात्पर्य है कि महावीर राक्षसों के हदय में भी राम का परमात्म रूप है। मारीच का मरते समय उच्च स्वर से हा सीते! हा लक्ष्मण! ऐसा पुकारने पर सीता लक्ष्मण को राम की सहायता के लिए भेजना चाहती है। लक्ष्मण कहते है कि तीनों लोकों में किसी में भी राम को परास्त करने अथवा उनका वध करने का सामर्थ्य नहीं है—

पन्नगासुरगन्धर्वदेवदानवराक्षसैः।
अशक्यस्तव वैदेहि भर्ता जेतुं न संशयः।।
देवि देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु पतत्त्रिषु।
राक्षसेषु पिशाचेषु किन्नरेषु मृगेषु च।।
दानवेषु च घोरेषु न स विद्येत शोभने।
यो रामं प्रतियुध्येत समरे वासवोपमम्।।
अवध्यः समरे रामो नैवं त्वं वक्तुमर्हसि।। —*तदेव, ४५.१०-१३*

रावण द्वारा सीता के केश पकड़ने पर ब्रह्माके मुख से एकदम से निकला, 'बस अब कार्य सिद्ध हो गया'—

कृतं कार्यमिति श्रीमान् व्याजहार पितामहः। —*तदेव, ५२.११*

सीता की इसी अवस्था को देख महर्षि भी मन में व्यथित हुए, परन्तु साथ में रावण का अन्त समीप आता जानकर प्रसन्न भी हुए—

रावणस्य विनाशं च प्राप्तं बुद्ध्वा यदृच्छया।। —*तदेव, ५२.१२*

सीताहरण के शोक से जब राम समस्त लोकों का संहार करने के लिए उद्यत हुए तो लक्ष्मण उन्हें कहता हैं कि किसी एक के अपराध के लिए समस्त लोकों का संहार न करें —

एकस्य नापराधेन लोकान् हन्तुं त्वमर्हसि।। —*तदेव, ६५.६*

अर्थात् राम में सम्पूर्ण लोकों को नष्ट करने का सामर्थ्य है।

लक्ष्मण कहते हैं कि आप अपने दिव्य और मानुष पराक्रम को देखकर उसका अवसरानुरूप उपयोग करते हुए शत्रुओं के वध का प्रयत्न कीजिए। समस्त संसार का विनाश करने की बजाय शत्रु का ही विनाश होना चाहिए—

दिव्यं च मानुषं चैवमात्मनश्च पराक्रमम्।
इक्ष्वाकुवृषमावेक्ष्य यतस्व द्विषतां वधे।।
किं ते सर्वविनाशेन कृतेन पुरुषर्षभ।
तमेव तु रिपुं पापं विज्ञायोद्धर्तुमर्हसि।। —*तदेव, ६६.२०-२१*

कबन्ध नामक राक्षस अपनी कथा राम को सुनाते हुए कहता है कि स्थूलशिरा नामक महर्षि ने उसे क्रूर तथा निन्दित रूप का शाप दे दिया था। उसके प्रार्थना करने पर महर्षि ने कहा था कि श्रीराम जब तुम्हारे दोनों हाथ काटकर तुम्हें वन में जलाएँगे तब तुम पुनः अपने सुन्दर रूप को प्राप्त कर सकोगे—

यदा छित्त्वा भुजौ रामस्त्वां दहेद् विजने वने।
तदा त्वं प्राप्स्यसे रूपं स्वमेव विपुलं शुभम्।।
श्रिया विराजितं पुत्रं दनोस्त्वं विद्धि लक्ष्मण।। —*तदेव, ७१.६-७*

अरण्यकाण्ड में ही श्रीराम पम्पासरोवर के तट पर शबरी के आश्रम में जाते हैं। सिद्ध तपस्विनी शबरी श्रीराम के दिव्य स्वरूप का वर्णन करती है। शबरी कहती है कि हे रघुनन्दन आपके दर्शन से ही मेरी तपस्या में सिद्धि प्राप्त हुई है। तथा अब मुझे आपके दिव्य धाम की भी प्राप्ति होगी। आपकी सौम्य दृष्टि पड़ने से मैं परम पवित्र हो गयी, तथा आपके प्रसाद से ही मैं अक्षय लोकों में जाऊँगी—

अद्य मे सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ।।
तवाहं चक्षुषा सौम्य पूता सौम्येन मानद।
गमिष्याम्यक्षयांल्लोकांस्त्वत्प्रसादादरिन्दम।। —*तदेव, ७४.१२-१३*

और अन्त में श्रीराम की आज्ञा प्राप्त कर दिव्य शरीर वाली वह शबरी अपने आप को अग्नि में आहुत कर दिव्य लोक को चली गयी। जिस प्रकार शरभङ्ग एवं सुतीक्ष्ण ऋषि ने हुताग्नि में शरीर की आहुति देकर शरीर त्याग किया था, वैसे ही शबरी ने भी शरीर त्याग कर आत्मसमाधि से पुण्यलोक प्राप्त किया।

किष्किन्धाकाण्ड के २९ वें सर्ग में श्री हनुमान् सुग्रीव को समझाते हुए कहते हैं कि श्रीराम देवताओं, असुरों और नागों को भी अपने वश में कर सकते है, तथापि आपने उनका कार्य सिद्ध करने की प्रतिज्ञा की है, अतः आप श्रीराम का प्रिय कार्य करने के लिए वानरों को आज्ञा देने में विलम्ब क्यों कर रहे है। श्रीराम के सामर्थ्य को बताते हुए श्री हनुमान् के वचन हैं—

देवदानवगन्धर्वा असुरा समरुद्गणाः।
न च यक्षा भयं तस्य कुर्युः किमिव राक्षसाः।। — *किष्किन्धाकाण्ड २९.२४*

सुन्दरकाण्ड में श्री सीताजी हनुमान् को पहचान बताने के लिए कौए की कथा सुनाती है। वे कहती हैं कि सोकर उठने पर राम को जब उस कौए की दुष्टता का पता लगा तो उन्होंने चटाई की एक कुशा का टुकड़ा निकालकर उसे ब्रह्मास्त्र के मन्त्र से अभिमन्त्रित किया। उस ब्रह्मास्त्र से उसे बचाने वाला तीनों लोकों में कोई नहीं था। उसके पिता इन्द्र तथा समस्त श्रेष्ठ महर्षियों ने भी उसका परित्याग कर दिया। अन्त में श्रीराम की शरण में आने से उन्होंने उसकी प्राणरक्षा की—

स पित्रा च परित्यक्तः सर्वैश्च परमर्षिभिः।
त्रींल्लोकान् सम्परिक्रम्य तमेव शरणं गतः।। — *सुन्दरकाण्ड ३८.३२*

श्री सीताजी कहती हैं कि युद्ध में श्रीराम के वेग को नाग, गन्धर्व, देवता और मरुद्गण कोई भी नहीं सह सकता—

न नागा नापि गन्धर्वा न सुरा न मरुद्गणाः।
रामस्य समरे वेगं शक्ताः प्रति समीहितुम्।। — *तदेव, ३८.४२*

रावण द्वारा प्रेषित राक्षसों को वीर हनुमान् अपना परिचय इस प्रकार देते है—

दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
हनुमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः।।
न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।। — *तदेव, ४२.३४-३५*

श्री हनुमान् जी श्रीराम के प्रभाव का वर्णन करते हुए रावण को समझाते हैं कि श्रीराम चराचर प्राणियों सहित सम्पूर्ण लोकों का संहार कर, पुनः इनकी सृष्टि करने में समर्थ हैं। वे विष्णु के समान पराक्रमी हैं तथा कहीं भी कोई भी उनका सामना करने में समर्थ नहीं है—

सर्वांल्लोकान् सुसंहृत्य सभूतान् सचराचरान्।
पुनरेव तथा स्रष्टुं शक्तो रामो महायशाः।।
देवासुर नरेन्द्रेषु यक्षरक्षोरगेषु च।
विद्याधरेषु नागेषु गन्धर्वेषु मृगेषु च।।
सिद्धेषु किंनरेन्द्रेषु पतत्रिषु च सर्वतः।
सर्वत्र सर्वभूतेषु सर्वकालेषु नास्ति सः।।
यो रामं प्रति युध्येत विष्णुतुल्यपराक्रमम्।। — *तदेव, ५१.३९-४२*

युद्धकाण्ड में रावण का नाना माल्यवान् नामक राक्षस रावण को श्रीराम से सन्धि कर लेने के लिए समझाता है और कहता है कि श्रीराम सामान्य मनुष्य मात्र नहीं हैं। मैं तो समझता हूँ कि साक्षात् भगवान् विष्णु ही मानव रूप धारण करके राम के रूप में आये हैं—

विष्णुं मन्यामहे रामं मानुषं रूपमास्थितम्।
न हि मुनष्यमात्रोऽसौ राघवो दृढविक्रमः।। — *युद्धकाण्ड ३५.३५*

युद्धकाण्ड में ही १०२ वें सर्ग में श्रीराम का इन्द्र द्वारा भेजे हुए रथ पर बैठकर रावण के साथ युद्ध करने का वर्णन है। देवराज देव-सारथि मातलि को अपना रथ देकर श्रीराम के पास भेजते हैं, जिससे रथ में बैठकर युद्ध कर रहे रावण से राम भी रथ में बैठ कर युद्ध कर सकें। (*तदेव, १०२.७-१७*) एक सौ ग्यारहवें सर्ग में रावण वध पर विलाप करते हुए मन्दोदरी कहती है कि श्रीराम निश्चय ही महान् योगी एवं सनातन परमात्मा हैं। ये महान् से भी महान् अज्ञानान्धकार से परे तथा सबको धारण करने वाले परमेश्वर हैं, जो अपने हाथ में शङ्ख, चक्र और गदा धारण करते हैं, जिनके वक्षः स्थल में श्रीवत्स का चिह्न है, भगवती लक्ष्मी जिनका साथ कभी नहीं छोड़ती हैं। जिन्हें परास्त करना असम्भव है। ऐसा स्वयं भगवान् विष्णु ने ही समस्त लोकों का हित चाहते हुए मनुष्य का रूप धारण कर, वानर रूप में प्रकट हुए समस्त देवताओं के साथ आकर राक्षसों सहित आपका वध किया है—

व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः।।
अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान्।
तमसः परमो धाता शङ्खचक्रगदाधरः।।
श्रीवत्सवक्षा नित्यश्रीरजय्यः शाश्वतो ध्रुवः।
मानुषं रूपमास्थाय विष्णुः सत्यपराक्रमः।।
सर्वैः परिवृतो देवैर्वानरत्वमुपागतैः।
सर्वलोकेश्वरः श्रीमाँल्लोकानां हितकाम्यया।।
स राक्षसपरीवारं देवशत्रुं भयावहम्। — *तदेव, १११.११-१५*

युद्धकाण्ड के ही एक सौ सतरहवें सर्ग में श्रीराम के पास देवताओं के आगमन एवं ब्रह्मा द्वारा उनकी भगवत्ता का प्रतिपादन एवं स्तवन किया गया है। *(तदेव, ११७.६.३२)* एक बानगी यहाँ प्रस्तुत है–

भगवान् नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित्।।
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः।। — *तदेव, ११७.१३–१४*

एक सौ उन्नीसवें सर्ग में महादेव की आज्ञा से विमान से आये हुए दशरथ को राम और लक्ष्मण प्रणाम करते हैं। दशरथ राम के विष्णु स्वरूप को उल्लेख करते हुए कहते हैं–

तारितोऽहं त्वया पुत्र सुपुत्रेण महात्मना।
अष्टावक्रेण धर्मात्मा कहोलो ब्राह्मणो यथा।।
इदानीं च विजानामि यथा सौम्य सुरेश्वरैः।
वधार्थं रावणस्येह पिहितं पुरुषोत्तमम्।। — *तदेव, ११९.१७–१८*

लक्ष्मण के अभिमुख होकर दशरथ कहते है—

एतत् तदुक्तमव्यक्तमक्षरं ब्रह्मसम्मितम्।
देवानां हृदयं सौम्य गुह्यं रामः परन्तपः।।— *तदेव, ११९. ३२*

एक सौ अठाइसवें सर्ग में रामायण माहात्म्य वर्णन करते हुए कहा गया है–

रामायणमिदं कृत्स्नं शृण्वतः पठतः सदा।
प्रीयते सततं रामः स हि विष्णु सनातनः।।
आदिदेवो महाबाहुर्हरिर्नारायणः प्रभुः।
साक्षाद्रामो रघुश्रेष्ठ शेषो लक्ष्मण उच्यते।। — *उत्तरकाण्ड १२८.११९–१२०*

इसी प्रकार उत्तरकाण्ड में भी ११० वें सर्ग में श्रीराम के परमधाम गमन हेतु सरयू के जल में प्रवेश करते समय ब्रह्माजी बोलते है —

ततः पितामहो वाणीं त्वन्तरिक्षादभाषत।
आगच्छ विष्णो भद्रं ते दिष्ट्या प्राप्तोऽस्ति राघव।।
वैष्णवीं तां महातेजो यद्वाकाशं सनातनम्।
त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित् प्रजानते।। — *तदेव, ११०.१०*

इस प्रकार बालकाण्ड से उत्तरकाण्ड तक के रामसम्बन्धित प्रसङ्गों में उनके अपने-पराये, सांसारिक एवं अलौकिक समस्त महापुरुषों द्वारा राम की पृष्ठभूमि में सर्वत्र विष्णु को देखा गया है, और साग्रह ऐसा बताया गया है। फलतः आधुनिक मीमांसा में राम के इस रूप को परवर्ती काल की उपज अथवा दूसरे शब्दों में स्पष्ट ही भगवान् वाल्मीकि का मौलिक कथन न मानकर प्रक्षिप्त बताने की परम्परा जो यत्र तत्र दृष्टिगोचर होती है, वह उचित नहीं है, जो सम्पूर्ण रामायण के हदय के रूप में यहाँ व्यक्त की गयी है। अतः राम में विष्णु के परवर्ती विकास को बताने वाली दृष्टि सर्वथा अप्रामाणिक है। वेदादि सम्पूर्ण शास्त्रों में उपासना और उपास्य स्वरूप निर्भ्रान्त रूप में अभिव्यक्त है। तथापि '**इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्**' का अनुशासन यह स्पष्ट करता है कि इन समस्त शास्त्रों के चारित्रिक अनुवर्तन के लिए यही एक मात्र पथ है कि भगवान् राम और कृष्ण के उस सनातन स्वरूप को एक पल के लिए भी न भूलकर और सदैव उसे ध्यान में रखकर उनके मानुष जीवन का अनुवर्तन कर जीवन को इस योग्य बनाएँ कि '**देवो भूत्वा देवं यजेत**' का प्रत्यक्ष निदर्शन हम बन सकें।

सह आचार्य-साहित्य विभाग
जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

धर्मसम्राट्करपात्रस्वामिनः सारस्वती सुषमा

डॉ. राजेन्द्रप्रसादशर्मा

श्रीशङ्कराचार्यनवावतारं, विद्वद्वरेण्यञ्च यतीन्द्रवर्यम्।
कलौ युगे यज्ञयुगप्रवर्तकं नमामि तं श्रीकरपात्रिणं गुरुम्।।१।।
वादतोषितविश्वेशं धर्ममार्गप्रवर्तकम्।
वन्दे हरिहरानन्दं करपात्रं जगद्गुरुम्।।२।।

अयोध्यायां रामजन्मभूमौ राममन्दिरनिर्माणस्य प्रश्नोऽद्य भारतीयमानमर्यादान्वितो दरीदृश्यते। परञ्च मन्दिरनिर्माणादपि महत्तरं कार्यं विद्यते—अखिले विश्वे रामराज्यस्य स्थापना। जगति भारतस्यादर्शभूतरामराज्यस्य स्थापनायाः स्वप्नद्रष्टारः सन्ति-प्रसिद्धदार्शनिकसन्ताः अनन्तश्रीविभूषिताः हरिहरानन्दसरस्वती-करपात्रस्वामिनः। प्राचीनभारतीयार्षसिद्धान्तैः शास्त्रैश्च मर्यादितः राजनीतिकव्यवस्थाया उत्कृष्टदृष्टान्तो वर्तते रामराज्यसिद्धान्तः। अस्य प्रबलसमर्थकाणां करपात्रस्वामिनामाविर्भाव उत्तरप्रदेशस्य प्रतापगढस्य जनपदस्य भटनीग्रामे चतुषष्ट्यधिकैकोनविंशतिशततमे विक्रमाब्दे १९६४-सप्तोत्तरैकोनविंशतिशततमे १९०७ ख्रीष्टाब्दे श्रावणमासे शुक्लपक्षे द्वितीयायां भानुवासरे १२.०८.१९०७ दिनाङ्के सरयूपारीणविप्रकुले सञ्जातः। दिव्यप्रतिभासम्पन्नस्य हरनारायणनामकस्यास्य बालकस्य प्राथमिकमध्ययनं संस्कृतद्वारा स्वपित्रा गृहे सम्पन्नम्। परञ्च अस्यपरात्परज्ञानजिज्ञासुसाधकस्य शीघ्रमेव सांसारिकक्रियाकलापाद् विरक्तिरुत्पन्ना। अयं गृहं विहाय इतस्ततः भ्रममाणो जातः। परं पितुर्विशेषाग्रहतः विवाहार्थं सन्तानोत्पत्त्यर्थं च विवशतया सन्नद्धोऽभवत्। बाल्यावस्थायामेव विवाहात् सप्तदशे वर्षे कन्यायाः पितृत्वं लब्धम्। पितुराग्रहे सम्पन्ने सति, वृद्धं जनकं वृद्धां जननीं भार्यां युवतीमबोधपुत्रीं च रोदनावस्थायां विहाय विरक्तस्य जीवने प्रविवेश। स्वाज्ञातलक्ष्यस्य प्राप्त्यर्थं वनं वनं वभ्राम। शीघ्रमेव तापसेनैकेन निर्देशो लब्धः—ज्ञानमर्जितव्यम् तेन विशिष्टोपलब्धिर्भविष्यति। अतः स नरवरनामकस्थानं गतवान् तत्र विशिष्टविद्वद्भ्यो व्याकरणशास्त्रं दर्शनशास्त्रञ्चाधीतवान्। अध्ययने पूर्णे जाते उत्तराखण्डस्य हिमालयतले 'हरिहरचेतन' नाम धृत्वा तपश्चर्यार्थं गतवान्। यत्र वर्षत्रयं यावत् कठोरतमं तपः संसाध्य सफलीभूय परमात्मज्ञानं साक्षात् लब्धम्। ब्रह्मसाक्षात्कारः सम्पन्नः। तदनु साक्षाद् अलौकिकदिव्यप्रभया मण्डितः सन् विशिष्टभावे कर्मक्षेत्रे प्रत्यावर्तितः। शरीरे कौपीनं धृतः, पवित्रस्य सदाचरणशीलस्य ब्राह्मणस्यैव गृहाद् भिक्षां भोजनं प्राप्य स्वकराभ्यां पात्रं निर्माय शरीररक्षार्थं गृहीत्वा सर्वत्र पदातिरूपेण गमनं तस्य दिनचर्या प्रसिद्धा। हस्तयोरेकवारं यद् भोज्यं लभते तेन सन्तुष्टताप्राप्तिरेषामनिवार्यनियमः येन ते 'करपात्रस्वामी' नाम्ना

जगद्विख्याता: सञ्जाता:। एतेषां जीवने कर्मणो ज्ञानस्य भक्तेर्निर्मला त्रिवेणी प्रवाहिता आसीत्। एतेनानुष्ठितानानि कार्याणि कर्मठजीवनस्योज्ज्वलप्रतीकानि सन्ति। अनेकेषां ग्रन्थाणां निर्माणमेतेषां ज्ञानपक्षं प्रकाशयति। भक्तिरसस्य मधुरया सरलयानन्दप्रदभाषया च विवेचनं भागवतस्य प्रवचनं चैतेषामुत्कृष्टभक्तस्वरूपमुद्घाटयति। एतेषां सम्पूर्णं जीवनम् एकराष्ट्रभक्तस्य, गोभक्तस्य, राजनीतिज्ञस्य, समाजशास्त्रिण:, शास्त्रार्थिन:, दार्शनिकस्य, अर्थशास्त्रिण:, यतिन:, वाग्मिन:, वेदविद:, तपस्विन: योगिन: विदुषश्चानेकरूपाणां समष्टे: पुष्टिं करोति। ईदृशेन दिव्यपुरुषेण ७.२.१९८२ ख्रीष्टाब्दे स्वशरीरं विहाय ब्रह्मभावमधिगत:।

कृतित्वम्

करपात्रस्वामिना अनेकानि कार्याणि सम्पन्नानि, तेषु सारत: मुख्या: सन्ति—

1. धर्मसङ्घस्य स्थापना
2. धर्मप्रचाराभियानानि
3. सिद्धान्तपत्रस्य, कोलकातावाराणसीत: सन्मार्गदैनिकपत्रस्य च प्रवर्तनम्
4. अखिले भारते श्रौतयागस्य धूमशिखामालाया: प्रज्वालनम्
5. रामराज्यपरिषत्स्थापनाखिलभारतीयसनातनदलसङ्घटनञ्च
6. हिन्दूकोडविलस्य (अधर्मस्य) विरोध:
7. गोवधस्य प्रतिरोध:, आन्दोलनं, अनशनम्, कारायात्रा च
8. शास्त्रीयसिद्धान्तानां सयुक्तिकं प्रवर्तनम्
9. भगवत्प्रीतिरसवर्षकस्य भागवतस्य बहुधा प्रवचनम्
10. शास्त्रार्थे विरोधिनां युक्तीनां स्वप्रतिभया प्रत्याख्यानम्
11. धर्मसहयोगिविदुषां समवाय:, साधुसङ्घस्य स्थापना
12. पाकिस्ताननिर्माणविरोध:
13. शिक्षामण्डलस्थापनम्, अखिलभारतीयर्धसङ्घस्य स्थापनञ्च
14. धर्मवीरदलप्रवर्तनम्
15. उत्तरभारते श्रीविद्योपासनाप्रचार: प्रसारश्च
16. अनेकशास्त्रीयसिद्धान्तप्रतिपादकग्रन्थानां लेखनम्
17. काश्यां सुमेरुपीठस्य तदाचार्यस्य प्रतिष्ठापना

एतेषां कृतित्वस्यामरगाथां सारस्वतेनावदानेन सुतरां सिद्ध्यति। स्वसशक्तलेखिन्या महत्साहित्यं निर्मितं, तद् भविष्ये परमप्रकाशकमत्र नास्ति संशीतिलेश:। एतेषां लिखितरचनानां षड्विध विभजनं स्वीक्रियते। यथा—

वेदविषयका ग्रन्था:

1. *वेदार्थपरिजात:* खण्डद्वये (पृ. ११००)
2. *वेदस्वरूपविमर्श:* (पृ. ४४७) अत्र वेदानामपौरुषेयत्वं तथा वेदानां सम्बन्धे शास्त्रविरूद्धधारणानां प्रत्याख्यानं कृतमस्ति।
3. *वेदप्रामाण्यमीमांसा* (संस्कृते ८० पृष्ठात्मिका) धर्मसङ्घस्य शिक्षामण्डलम् दुर्गाकुण्डम्, वाराणसी वि.सं. २०१७
4. *वाजसनेयिमाध्यन्दिनीशुक्लयजुर्वेदसंहिताभाष्यम्* (पृ. २९६)
5. *वेद का स्वरूप और प्रामाण्य* इत्यको हिन्दीबद्धो ग्रन्थ: (भागद्वये पृ. ७१४) अत्र वैदिकसिद्धान्तानां स्पष्टतया विश्लेषणं कृतमस्ति। श्रीधर्मसङ्घशिक्षामण्डलम्, वाराणसी २०१६ अस्मिन् ग्रन्थे—१. वेदों की अपौरुषेयता, २. वेदों का स्वत: प्रामाण्य, ३. समस्त वेद का प्रामाण्य, ४. विध्यर्थ भावना विचार, ५. अर्थवादों का प्रामाण्य, ६. मन्त्रप्रामाण्यविचार, ७. वेदशाखाओं का विवेक, ८. ब्राह्मणभाग का वेदत्व विचार, ९. ब्राह्मणों के वेदत्व पर विशिष्ट विचार, १०. परिशिष्ट थीबो साहब का शास्त्रार्थ निर्णय—एते दश अध्याया: सन्ति।
6. *वेदार्थचिन्तामणि* अत्र ऋग्वेदस्य यजुर्वेदस्य च भाष्यात्मका: विचारा: विस्तरेण उपवृंहिता: सन्ति।

सदाचारपरका ग्रन्था:

7. *विचारपीयूष* (त्रिखण्डेषु पृ. ६५०) गुरुश्रीगोलवलकरस्य पुस्तकस्य *विचारनवनीत* इत्यस्य आलोचनया सह।
8. *धर्मकृत्योपयोगितिथ्यादिनिर्णय: कुम्भनिर्णयश्च* संस्कृते
9. *चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्श:* (संस्कृते पृ. ३२४) अत्र मुख्यतया षड्विषया विवेचिता: सन्ति—१. जन्मना वर्णवाद:, २. वर्णद्वयवाद:, ३. एकवर्णवाद:, ४. आजीविकावर्णवाद:, ५. वर्णसम्बन्धिविचार:, ६. वेदाध्ययनाधिकार:।
10. *प्रवचन पीयूष*
11. *प्रवचन संग्रह*
12. *आदर्शविचार*

राजनीतिकग्रन्था:

13. *मार्क्सवाद और रामराज्य* (पृ. ३२०) राजनीतेरयमुकृष्टग्रन्थ:, अत्र प्राच्यपौरस्त्यराजदर्शनस्य तुलनात्मकं समीक्षणं कार्लमार्क्ससिद्धान्तानामनुपयोगित्वं भारतीयराजदर्शनस्यवैशिष्ट्यं प्रतिपादितमस्ति।
14. *सङ्घर्ष और शान्ति* (पृ. २५५) अत्र २७ लेखानां संग्रहो विद्यते।

15. *पूँजीवाद, समाजवाद और रामराज्य* (पृ. २६५)
16. *बदलती दुनिया* (इतिहासग्रन्थः पृ. ११२)
17. *ये राजनीतिक दल* (राजनीतिकदलानां समालोचनं कृतम्)
18. *धर्म और राजनीति* (पृ. २६) राजनीतौ धर्मस्य महत्त्वं साधितमस्ति।
19. *गम्भीर विचार की आवश्यकता* (पृ. २०)
20. *जाति, राष्ट्र और संस्कृति*
21. *रामराज्य* (पृ. ४०) रामराज्यस्य परिचयो वर्तते।
22. *राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दू धर्म* अत्र पञ्च भागाः सन्ति—१. धर्मः, २. दर्शनम्, ३. इतिहासः, ४. सदाचारः, ५. भाषा
23. *रामराज्य परिषद् और अन्य दल*
24. *आधुनिक राजनीति और रामराज्य परिषद्*
25. *राजनीति में ईमानदारी : व्यक्तिगत या सामूहिक*
26. *समन्वय*
27. *साम्राज्य संरक्षण*

अशास्त्रीमतखण्डनात्मका ग्रन्थाः

28. *रामायण-महाभारत काल मीमांसा* (पृ. ९६) धर्मसङ्घ दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, सं. २०३५
29. *विदेशयात्रा एक शास्त्रीय पक्ष* (पृ. २६५)
30. *क्या सम्भोग से समाधि* (आचार्य रजनीशस्य पुस्तकोपरि प्रतिक्रिया, पृ. १०५)
31. *राहुल जी की भ्रान्ति* (श्री राहुल सांकृत्यायनस्य पुस्तकोपरि प्रतिक्रिया)
32. *शाङ्कर सिद्धान्तों पर किए गए आक्षेपों का समाधान* (पृ. २५८)
33. *शाङ्करसिद्धान्त समाधान*
34. *हिन्दू कोड विल : प्रमाण की कसौटी पर* (पृ. २५८)
35. *वेदान्त प्रश्नोत्तरी*

भक्तिपरिपोषकाः ग्रन्थाः

36. *भक्तिरसार्णवः – एकादशप्रकरणात्मकः* (पृ. २४९) अस्मिन् ग्रन्थे अत्यन्तस्पष्टेन विधिना भक्तिरसस्य स्वातन्त्र्येण रसत्वं साधितमस्ति।
37. *रामायणमीमांसा* अस्मिन् ५४ व्याख्यानानां संग्रहो वर्तते, पृ. १०५२

38. *पिबत भागवतं रसमालयम्* (पृ. ९६)
39. *भागवत सुधा* (पृ. २९४)
40. *श्रीराधासुधा* (पृ. २८५) राधाकृष्णधानुका प्रकाशन संस्थान, वृन्दावन, १९९७
41. *रासपञ्चाध्यायी*
42. *वेणुरव*
43. *माँ के श्रीचरणों में*
44. *रास और प्रयोजन*
45. *श्रीभगवतत्त्व* (१. वेदान्तसार, २. सगुण या निर्गुण, ३. श्रीकृष्ण जन्म और बालक क्रीड़ा, ४. ब्रज भूमि, ५. श्रीरास लीला रहस्य, ६. भगवान् का मङ्गलमय स्वरूप, ७. श्रीरामचन्द्र का ध्यान, ८. गणपतिमाहात्म्य, ९. इष्टदेव की उपासना, १०. सर्वसिद्धान्त समन्वय इति। १० लेखानां संग्रहः, पृ. ७२२)
46. *अहमर्थ और परमार्थ सार* (पृ. २७०) अत्र वेदान्ततत्त्वानि व्याख्यातानि सन्ति।
47. *गीता का हुक्मनामा*
48. *सङ्कीर्तन मीमांसा और वर्णाश्रम मर्यादा* (पृ. १११) अस्मिन् भगवतो नाम्नां विश्लेषणं कृतमस्ति। धर्मसङ्घमण्डलम्, वाराणसी
49. *गीता जयन्ती और भीष्मोत्क्रान्ति* (पृ. २२३)
50. *द्वादश नामापराध*
51. *ईश्वर साधन और साध्य*
52. *विभीषण शरणागति*

श्रीविद्योपासनाग्रन्थाः

53. *महात्रिपुरसुन्दरी वरिवस्या* त्रिपुरसुन्दरीपूजनविधिर्वर्णिता। पं. पट्टाभिरामशास्त्रिचरणैः सम्पादिताः।
54. *श्रीविद्यारत्नाकरः* (संस्कृते पृ. ४७० श्रीविद्यासाधनापीठद्वारा पुनः प्रकाशितः) ग्रन्थेऽस्मिन् महागणपति-ललिता-श्यामला-वार्ताली-परासपर्या परशुरामकल्पसूत्रश्रीविद्यार्णवनित्योसवादिरीत्या सप्रमाणं प्रतिपादिता। श्रीविद्यासाधनायाः परिपूर्णपरिचायकग्रन्थः साङ्गोपाङ्गसपर्याविधिवर्णितः। परिशिष्टे पूर्णाभिषेकादिविधिभिः अलङ्कृतः। श्रीविद्यामन्त्रभाष्यम्, वाञ्छाकल्पलता विद्या, लक्षार्चनम्, महायागक्रमः सुललितानि स्तोत्राणि च परिशिष्टे हृदयावर्जकानि।

55. *श्रीविद्यावरिस्या* (संस्कृते पृ. २६४, श्रीविद्यासाधनापीठद्वारा पुनः प्रकाशिता) अयं श्रीक्रमसाधनायाः लोकप्रियः पद्धतिविवेचकः शास्त्रसम्मतसपर्याविधिनिरूपको विलक्षणग्रन्थश्चकास्ति। नित्यनैमित्तिकपूजनपद्धतिस्तुति-प्रतिपादकग्रन्थरत्नमिदं संक्षिप्तविधिमण्डितं चास्ति।

56. *श्रीललितात्रिशती* (संस्कृते पृ. ४७०)

57. *पुरुषार्थमीमांसा* (प्रथमं प्रवचनं सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये) *दर्शनविन्दुसंग्रहे* प्रकाशितम् पृ. १८३-२८४ (१९९२ ख्रीष्टाब्दे)

58. *श्रीमद्भागवतदर्शनं पुरुषार्थश्च* (द्वितीयं प्रवचनं) *दर्शनविन्दुसंग्रहे* प्रकाशितम्, पृ. २८५-३२२

59. *श्रीमद्भागवते जगत्कारणमीमांसा* (तृतीयं प्रवचनं) *दर्शनबिन्दुसंग्रहे* प्रकाशिता, पृ. ३२३-४०९

60. *श्रीसूक्तभाष्यम् सारस्वतीसुषमायां* प्रकाशितं प्रवचनम्

एवमेतेषां सारस्वतीसाधनायाः प्रोज्ज्वल-कृतित्वविवरणं समुपलभ्यते इति हर्षप्रकर्षः।

विभागाध्यक्षः दर्शनविभागः,
राजस्थानविश्वविद्यालयः, जयपुरम्

ज्योतिषागमयोरन्तरसम्बन्धः

गणेशत्रिपाठी

वेदागमविरुद्धाय वेदागमविधायिने।
वेदागमसतत्त्वाय गुह्याय स्वामिने नमः।।

आगमतन्त्रम्

वेदविदितश्रुतिचरणानुकूलव्यापाराश्रितधर्मविशेषो नाम सनातनः। सनातनो ह्येष धर्मो यत्र समेषां भूचरस्थावरजङ्गमादीनां चराचरवस्तूनां सङ्कल्पना देवत्वेन स्वीकृता विद्यते। स्थानविशेषेण देवानां पृथ्वी-द्यौ-अन्तरिक्षानां समवस्थितानां विभाजनं परिकल्प्य स्वस्वमनोवाञ्छिताराध्यदेवानां देवीनाञ्च समर्चनं सात्त्विक-राजस-तामसिकभेदेन विधाय धर्मार्थकाममोक्षाणां परिसाधनं भजन्ते। लोकेषु सर्वतो भावेन वेदानामेव सर्वप्राथमिकी स्वतन्त्रसत्ता विद्यते इति विदुषामभिप्रायः। ततस्तावत् बहुविधानामागमानामाविर्भावो जगति बभूव इति कालक्रमवेत्तामनुते। वस्तुतस्त्वागमः सर्वदा नित्यः शाश्वतश्च न तस्यादिः न तस्य मध्यः न तस्यान्तश्चेति तथापि लोकपरम्परया गुरुदीक्षापरम्परया श्रुतिपरम्परया च आगमस्येयमेव परिपाटी आद्यगुरुशङ्कराचार्य-पदादत्रागत्य लोकेषु समादवरत् विराजते। वस्तुतस्तु शाब्दबोधप्रक्रियायां आगमशब्दः आ उपसर्गपूर्वकं गम् धातोः घञ् प्रत्यये कृते सति निष्पद्यते। यस्यार्थः भवति गुरुशिष्यपरम्परया श्रुतिपरम्पराया च कश्चन नित्यशाश्वतसुखसम्पत्तिभोगमोक्षकारकः प्राप्तमन्त्रविशेषरूप उपदेशः। यथा हि प्रोक्तम्—

धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशाश्च उपदेशाः प्रकीर्तिताः।। — *लघुसिद्धान्तकौमुद्याम्*

वास्तविकरूपेणागमस्तूपदेशमात्रपरम्पराविशेष एव। यो खलु शिवपार्वतीसंवादरूपकालचर्यायां कश्चनवर्णविशेषोपदेशः शिववक्त्रात् विनिःसृतः गिरिजाश्रुतौ चापतितः वासुदेवश्च स्वीकृतः। एतेषामेव त्रयाणां समवेतावस्थायां येषां तत्त्वानां वस्तूनां मन्त्राणां च मननचिन्तनादिकं सञ्जातं तदेवागम इति। यतः—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।
मतं श्रीवासुदेवस्य तस्माद् आगम उच्यते।। — *सर्वोल्लासतन्त्रे १.१५*

अन्यच्चाप्युक्तं यत्—

इह तावत् समस्तोऽयं व्यवहारः पुरातनः।
प्रसिद्धिमनुसन्धाय सैव चागम उच्यते।। — *सर्वोल्लासतन्त्रे ३५.१*

अत: भगवत: शिवस्य मुखेभ्य: निर्गतोऽयमुपदेशरूप: प्रक्रम: आगम इति उच्यते। आगमस्यारम्भस्तु शिवगौरीसंवादात् सम्भूय आद्यगुरुशङ्कराचार्यमध्यमरूपात् विनिर्गत्य अस्मद् गुरुपर्यन्तं समागत:। आगमस्यारम्भ: शिव:, मध्य: शङ्कराचार्य:, अवशिष्टश्चास्मद् गुरुरेव। अस्यान्तस्तु नैव कदाचित्। अत एवोच्यते—

शिवगौरीसमारम्भां शङ्कराचार्यमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्।। — *मङ्गलश्लोक:*

आगमस्य तन्त्रम् आगमतन्त्रमिति लोके श्रूयते। तन्त्रं नाम निर्दिष्टविषयवस्तूनां तथ्यानाञ्चैकत्रीकरणम्। यत्र खलु विविधशास्त्रविचारदृष्ट्या तर्कवितर्कशास्त्रतत्त्वमन्त्रानुरोधेन समुचितज्ञानस्य बोधो भवति। यत:—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
ज्ञानं च कुरुते यस्माद् तन्त्रमित्यभिधीयते।। — *कामिकागमतन्त्रे*

ज्योतिषागमतन्त्रम्

द्विविधा हि विद्या परापरा चेति लोके श्रूयते। परा ब्रह्मविषयकं ज्ञान प्रयच्छति अपरा च लौकिकं ज्ञानं यच्छति। अपराविद्यायामेव वेदादीनां सषडङ्गानामन्तर्भावो भवति। ज्योतिषं हि अपराविद्येति तथैव आगमतन्त्रमपि अपराविद्येति वर्तते यत: तत्र प्रसरितं सर्वं षट्कर्म सप्तलक्षणसमोपेतं सविधज्ञानम् इत्यादिकं लौकिकमेव प्रतिभाति। एवं च आगमो पराविद्यापि श्रूयते यत: तेन ब्रह्मविषयकं ज्ञानमपि प्राप्यते। अत: अपराविद्यान्तर्गतागमज्योतिषयो: सम्बन्ध: विद्यावर्गीकरणेन स्वीक्रियते। पुनश्चागम: अनेकार्थत्वान् तन्त्रकारणादागमतन्त्रेति नाम्ना प्रसिद्धं तथैव ज्योतिषमपि कालतन्त्र इति नाम्ना प्रसिद्धमस्ति। यत: ज्योतिषशास्त्रे केवलं द्विविधात्मकस्य कालस्यैव अनेकार्थात्मकं सतत्त्वमन्त्रं विविधात्मकमध्ययनं भवति। समुचितकालेनैव सर्वाणि कार्याणि भवन्ति। कालं विना तु न कोऽपि स्थातुं शक्नोति। ज्योतिषं तु वेदाङ्गस्य नेत्रमिति वर्तते तथा चे नेत्रयो: कार्यं शुभाशुभवस्तुन: दर्शनमेव भवति। तथैव ज्योतिषमपि नेत्रत्वेन शुभाशुभकालस्य निर्णयं करोति। यत: प्रोक्तम्—

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ता: यज्ञा: प्रोक्ता: ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्माद् कालबोधो यत: स्यात् वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्।
— *सिद्धान्तशिरोमणौ कालमानाध्याये ९*

मुहूर्त्तचिन्तामणिग्रन्थकारेण स्वकीये ग्रन्थे *मुहूर्त्तचिन्तामणौ* तु कालतन्त्रस्य ज्योतिषस्य साङ्गोपाङ्गं वेत्तारं तान्त्रिक इति संज्ञा व्यवहिता। यत: प्रोक्तम्—

एतद् बलं सम्प्रतिभाव्य तान्त्रिकस्तेषां सुखं सम्प्रवदेद् विवाहत:। — *मुहूर्त्तचिन्तामणौ ६.९३*

आगमो हि शिवपार्वतीसंवादरूपं शास्त्रं तेनैव प्रकारेण ज्योतिषशास्त्रेऽपि शिवपार्वतीसंवादरूपस्य शास्त्रस्य प्रयोग: बाहुल्यतया दृश्यते। सर्वप्रथमं तु फलोदशप्रक्रियायां शुभाशुभकालस्य विभाजनं विविधदशामाध्यमेन क्रियते। पराशरानुसारेण तु दशा बहुविधा भवति किन्तु तासु दशासु कालचक्रनाम्नीदशा

योगिनीदशा च प्रसिद्धा अनुभवप्राप्ताचास्ति। एतासु दशासु च कालचक्रदशा साक्षात् शिवपार्वतीसंवादरूपा एव यत: पार्वती स्वयमेव भगवन्तं शिवं प्रणम्य कालस्य गतिविषये ग्रहचक्रविषये शुभाशुभफलविषये च पृच्छति। कालचक्रदशायां सर्वेषां ग्रहाणां विविधनक्षत्रस्थितिवशेन ग्रहगोचरवशेन च शुभाशुभफलादेशो कृतो विद्यते। येन फलस्फुटत्वं क्षिप्रं भवति तथा च स्वयमेव पार्वतीस्वरूपा योगिनी दशा अष्टयोगिनीवत् मङ्गला-पिङ्गला-धान्या-भ्रामरी-भद्रिका-उल्का-सिद्धा-सङ्कटा च नाम्ना प्रसिद्धा स्वनामसदृशमेव शुभाशुभकालं यथा समये स्वदशायां ज्ञापयति। एवं प्रकारेणापि ज्योतिषागमयोरन्तरसम्बन्ध: साक्षादेव परिलक्ष्यते। यथा हि—

प्रणम्य परमात्मानं शिवं परमाकारणं
खेचरं चक्रमध्यस्थं चतु:षष्टिकलात्मकम्।
पप्रच्छ देवदेवेशमीश्वरं सर्वमङ्गलां
कालचक्रगतिं सर्वां विस्तराद्वद मे प्रभो।। — *जातकपरिजातम् १७.१*

आगमे हि रुद्र-ब्रह्म-विष्णु-गौर्यादियामलतन्त्राणां प्रसिद्धि: वर्तते तथैव ज्योतिषशास्त्रेऽपि विविधागमयामलतन्त्राणां प्रयोग: संदृश्यते। आगमस्य प्रमुखेषु सप्तषु ब्रह्मविष्णुरुद्रादित्यस्कन्दकूर्म-देवीयामलप्रभृतिग्रन्थेषु ज्योतिषस्य विषयाणां चर्चा पुष्कलेन प्राप्यते। एतेषु ग्रन्थेषु प्राधान्यत्वेन स्वरचक्रचक्रभूबलबलज्योतिषशकुनानि च षडङ्गानि एव स्वीकृतानि सन्ति। एतेएव विषया: ज्योतिषशास्त्रानुरोधेन उपवर्णिता: सन्ति। एतानि षडङ्गानि एव ज्योतिषे आगमस्य अन्त:सम्बन्धं जनयन्ति। एतेषामङ्गानां ज्ञानेनैव आगमस्यास्तित्वं विराजते। एवमुक्तमस्ति—

स्वरचक्राणि चक्राणि भूबलानि बलानि च।
ज्योतिषं शकुनं चैव षडङ्गानि वदाम्यहम्।। — *नरपतिजयचर्यायाम्*

लक्षणसम्बन्ध:

लोकेऽस्मिन् सर्वेषां शास्त्राणां सर्वेषां वस्तूना वा केषाञ्चिदपि पदार्थानां कतिचित् लक्षणानि भवन्त्येव। येन विज्ञाते सति तद्शास्त्रेषु प्रवृत्ति: भवति। समुचितलक्षणेनैव कस्यापि विषयस्य ज्ञानं समुचितं भवति। यदि लक्षणस्य ज्ञानं न स्याद् तदा शास्त्रीयकार्येषु सिद्धि: न भवति। एवमनुरूध्यैवागमशास्त्रविद्भि: आगमस्य लक्षणानि कतिचित् निर्मितानि। येषां गुणानां समावेशस्तु नृणां परमावश्यको भवति। तत्रागमशास्त्रं सप्तभि: लक्षणोपेतं भवतीति सुनिश्चितम् कदाचित्। येषु साधकेषु एतेषां गुणानां ज्ञानं समावेशश्च स्याद् तदैव स: साधको भवितमुमर्हति नान्यथा। यत: लक्षणमुक्तम्—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च।।
षड्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विध:।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधा:।। — *वाराहीतन्त्रे*

सृष्ट्यादि सप्तलक्षणसमायुक्तोऽयं जन एव आगमशास्त्रस्य ज्ञाता भवति। सृष्ट्यादि सप्तलक्षणानां सविस्तरवर्णनं तु ज्योतिषशास्त्रेऽपि क्रियते। यथा सृष्ट्याः निर्माणसम्बन्धिनं ज्ञानं सृष्ट्या आरम्भोऽवसानश्चेत्यादिकं ज्योतिषानुरोधेनैव क्रियते। तथा च नित्य-नैमित्तिक-आत्यन्तिकादि चतुर्विध-प्रलायानां वर्णनं तु सुतरां ज्योतिषे प्रतिभाति। सर्वान् देवान् ब्रहरूपं मत्वैव देवानां ग्रहाणां चार्चनं विधातव्यमिति ज्योतिषे प्राप्यते। सर्वे देवा स्वकीयं शुभाशुभप्रभावं ग्रहमाध्यमेनैव नृणां यथानुकूलसमयं विज्ञाय यच्छन्ति। नवग्रहाणामधिदेवता प्रत्यधिदेवता शिवादि भूत्वा इदमेव सिद्ध्यति। यथा—

देवता ग्रहरूपेण प्रदिशन्ति शुभाशुभम्।
फलं प्रार्जितं यच्च तद् ददाति स्वकीयकम्। — *भावप्रकाशभूमिकायाम्*

अन्यच्च मारणमोहनादि षट्कर्मणः ज्ञानं तु दैवज्ञानां पार्श्वे भवितव्यमेव ज्योतिषाद्यग्रन्थकारः स्वयमेव वराहमिहिरः प्रतिपादयति। दैवज्ञानां गुणानां लक्षणां च विषये वराहेणोच्यते यत् दैवज्ञः सर्वदा सात्त्विकः भवितव्यः, शान्ति-पौष्टिकादिषट्कर्माभिचारयुक्तः, अनेकदेवानां देवीनाञ्च व्रतोपवासादिनां परिपालनकर्त्ता च भवितव्यः इत्यादि लक्षणानां गुणानां समाहारः दैवज्ञेषु भवितव्यः। एतेषामेव गुणानामेव वर्णनं विमर्शनं च आगमशास्त्रेऽपि प्राप्यते। अतः विविधलक्षणानुरोधेनापि ज्योतिषागमयोरन्तरसम्बन्धः सुतरामेव प्रगाढं प्रतिभाति। यथोच्यते—

शुचिर्दक्षो प्रगल्भो वाग्मि प्रतिभानवान् देशकालवित् सात्त्विको न पर्षद्भीरुः सहाध्यायिभिरनभिभवनीयः कुशलोऽव्यसनी शान्तिकपौष्टिकाभिचारस्नानविद्याभिज्ञो विबुधार्चनव्रतोपवासनिरतः स्वतन्त्राश्चर्योत्पादितप्रभावः पृष्टाभिधाय्यन्यत्र दैवात्ययाद् ग्रहगणितसंहिताहोराग्रन्थार्थवेत्तेति। — *बृहत्संहितायां सांवत्सरसूत्राध्याये।*

आगमतन्त्रे हि सर्वे वर्णाः मन्त्रस्वरूपा इति मन्यते तथा च सर्वे मन्त्राः शक्त्या आत्मीयतत्त्वाः वर्तन्ते सा स्वकीया शक्तिः मातृकारूपेण लेखनरूपेण लोकेषु विराजते। येन भावानां मन्त्रनिगूढतत्त्वानां स्पष्टतया बोधो जायते। सामान्यमिदं वर्तते यत् सर्वे वर्णाः साक्षात् शक्त्या आधारभूततत्त्वाः वर्तन्ते। यतो हि—

सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते शक्त्यात्मकाः प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका।। — *तत्रसद्भावे*

एवमेव अकारादारभ्य हकारपर्यन्तं सर्वे वर्णाः शक्त्या अङ्गोपाङ्गानि रूपेण विराजन्ते। एतेषु वर्णेषु स्वयमेव शक्तिः विराजते। यतो हि विविध श्रीयन्त्र-रुद्रयन्त्र-विष्णुयन्त्रादिनिर्माणे एतेषामेव वर्णानां बीजरूपेण शक्ति-रूपेण मन्त्रात्मकरूपेण च प्रयोगो भवति। येन यन्त्रेषु साक्षाद्देवो विराजते। श्रीयन्त्रविषये तु अकारादि आरभ्य हकारपर्यन्तं वर्णानां विभाजनं मुखनेत्रहृदयादिरूपेण कृतं विद्यते तथा च तेषां स्थानमपि सुनिश्चितमेव। यथा हि सर्वे अकारादि स्वराः शिवायाः मुखस्वरूपाः सन्ति। कादि आरभ्य ञ् पर्यन्तं सर्वे वर्णाः शक्त्याः हस्तस्वरूपाः सन्ति तथा टादि आरभ्य नकारपर्यन्तं सर्वे वर्णाः गौर्याः पादस्वरूपाः सन्ति एवं च पादि प्रारभ्य मकारपर्यन्तं सर्वेऽपि वर्णाः शिवायाः मध्यभागाः सन्ति। पुनश्च यादि प्रारभ्यः हकारपर्यन्तं सर्वे वर्णाः भगवत्याः हृदयस्वरूपं प्रतिनिधित्वं भजन्ति। यतो हि प्रोक्तम्—

आदिमुखाः कादिकरा टादिपदा पादिपार्श्वयुङ् मध्याः।
यादि हृदया भगवती संविद्रूपा सरस्वती जयति।। — *रहस्यपञ्चदशिकायां २*

ज्योतिषशास्त्रं हि अङ्कप्रधानशास्त्रं वर्तते। वर्णानां स्वराणामाधारेणाङ्काणां विन्यासस्तु ज्योतिषस्य वैदुष्यपरम्परामग्रेसारयति। केवलं निर्दिष्टवर्णमनुरूध्य अङ्केसंख्यानां बोधः ज्योतिषे क्रियते। यथा हि ऋषि पदेन ७ सप्त संख्या, वेद पदेन ४ चत्वारि संख्या, विश्वपदेन १३ त्रयोदश संख्या इत्यादिकमेनरूपं ज्योतिषे भूयशः प्राप्यते। अथ च केवलं एकमेव वर्णमुद्दिश्य अनेकसंख्याबोधो जायते। यथा भगवत्या अकारादि सर्वं स्वरूपं द्योतयति तथैव ज्योतिषशास्त्रेऽपि तेनैव विधिना अकारादि वर्णः निर्दिष्टं संख्यां द्योतयति। तथा च समुचितविविधवर्णशब्दानुरोधने एकादिकानां संख्यानां ग्रहणं भवति। शब्दतः संख्यायाः ग्रहणस्य परम्परा तु केवलं ज्योतिषे एव समवलोक्यते नान्यत्र। आचार्य-आर्यभट्ट-कृत **आर्यभटीयम्** नामकः ग्रन्थस्तु वर्णेभ्य एव स्वसंख्याक्रमविन्यासरूपेणैव लोके विश्रुतमस्ति। अन्यच्चार्षग्रन्थकारजैमिनिकृतं **जैमिनिसूत्रम्** नामकग्रन्थोऽपि वर्णानुरोधेन स्वकीयाङ्कपद्धतिद्वारैव ज्योतिषे समाद्रियते। तत्राङ्कानां क्रमस्तु एवमेव प्रदर्शितः चक्रे स्पष्टं सर्वमेव। अनेन लक्षणसम्बन्धेनापि ज्योतिषागमयोरन्तरसम्बन्धः सर्वदा पल्लवति।

कादिर्नवाङ्का नव टादिरङ्काः पादिश्शराः यादि भवन्ति चाष्टौ।
नञे च शून्ये ज्ञेये तथा स्वरे केवले कथितम्।। — *जैमिनिसूत्रे*

अङ्काः	कवर्गादि	टवर्गादि	पवर्गादि	यवर्गादि
१	क	ट	प	य
२	ख	ठ	फ	र
३	ग	ड	ब	ल
४	घ	ढ	भ	व
५	ङ्	ण	म	श
६	च	त		ष
७	छ	थ		स
८	झ	द		ह
९	झ	ध		
०	ञ्	न	अ-अः	

ज्योतिषेऽऽगमप्रमाणम्

कस्यापि शास्त्रस्य सत्तां स्थातुं प्रमाणस्यावश्यकता भवति यतो हि प्रमाणेनैव सर्वं साध्यते। यदि शास्त्रे प्रमाणं न स्यात् तदा तच्छास्त्रं वृथैव श्रूयते। तदेवानुसृत्य ज्योतिषेऽपि त्रीणि प्रमाणानि स्वीक्रियन्ते। प्रत्यक्ष-आगम-युक्तिप्रमाणं तु ज्योतिषे वर्णितमस्ति। यथा हि प्रोक्तम्—

प्रत्यक्षागमयुक्तिशालि तदिदं शास्त्रं विहायान्यथा।
यत् कुर्वन्ति नराधमास्तु तदसत् वेदोक्तिशून्या भृशम्।। — *सिद्धान्ततत्त्वविवेके मानाध्याये ६५*

एतेषु प्रमाणेषु आगमप्रमाणं तु ज्योतिषस्याधारभूतं वर्तते। यतः ज्योतिषशास्त्रेऽपि आगमस्य प्रभाव आर्षप्रमाणैः प्रचुरतायां समवलोक्यते। ज्योतिषशास्त्रे बहूनि एतादृशस्थलानि समुपस्थितानि भवन्ति यत्र आगमस्य प्रमाणाप्येव एकैव शरणमवलोकितानि भविन्त। आर्षप्रमाणानि यदि ज्योतिषज्ञाः नाङ्गीकुर्युस्तदा ग्रहाणां चारः स्थितिः भ्रमणं च नैव कलयितुं शक्यते। केनापि प्रकारेण कयापि रीत्या केनचिद् अपि विधिना नैव गणयितुं शक्यते। ज्योतिषशास्त्रस्य प्राचीनसूर्याद्यष्टादशप्रवर्तकैः ग्रहाणां उच्चनीचमूलत्रिकोणराशयः प्रतिपादिता अपि च एतदनुसारेण फलादेशस्य याः विधयः कथिताः ते सर्वे आर्षप्रमाणैः समागण्य सम्प्रत्यपि तादृशे एव स्वरूपे विद्वद्भिः व्यवह्रियते। एवमेव अनेकप्रमाणपुरःसरेणानेकप्रकारेणेदं सिद्ध्यति यत् ज्योतिषस्य सम्बन्ध आगमशास्त्रेण सह वर्तते। वर्णितमप्यस्ति—

सर्वप्रमाणागमसुप्रसिद्धाः खेटर्क्षपातोच्चकपूर्वकाणाम्।
कल्पोदिता ये भगणादयस्तत् सर्वं निरग्रं किल सप्रमाणम्।। — *मध्यमाधिकारे ।*

शोधछात्रः, एस.आर.एफ., ज्योतिषविभागः,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी-२२१००५